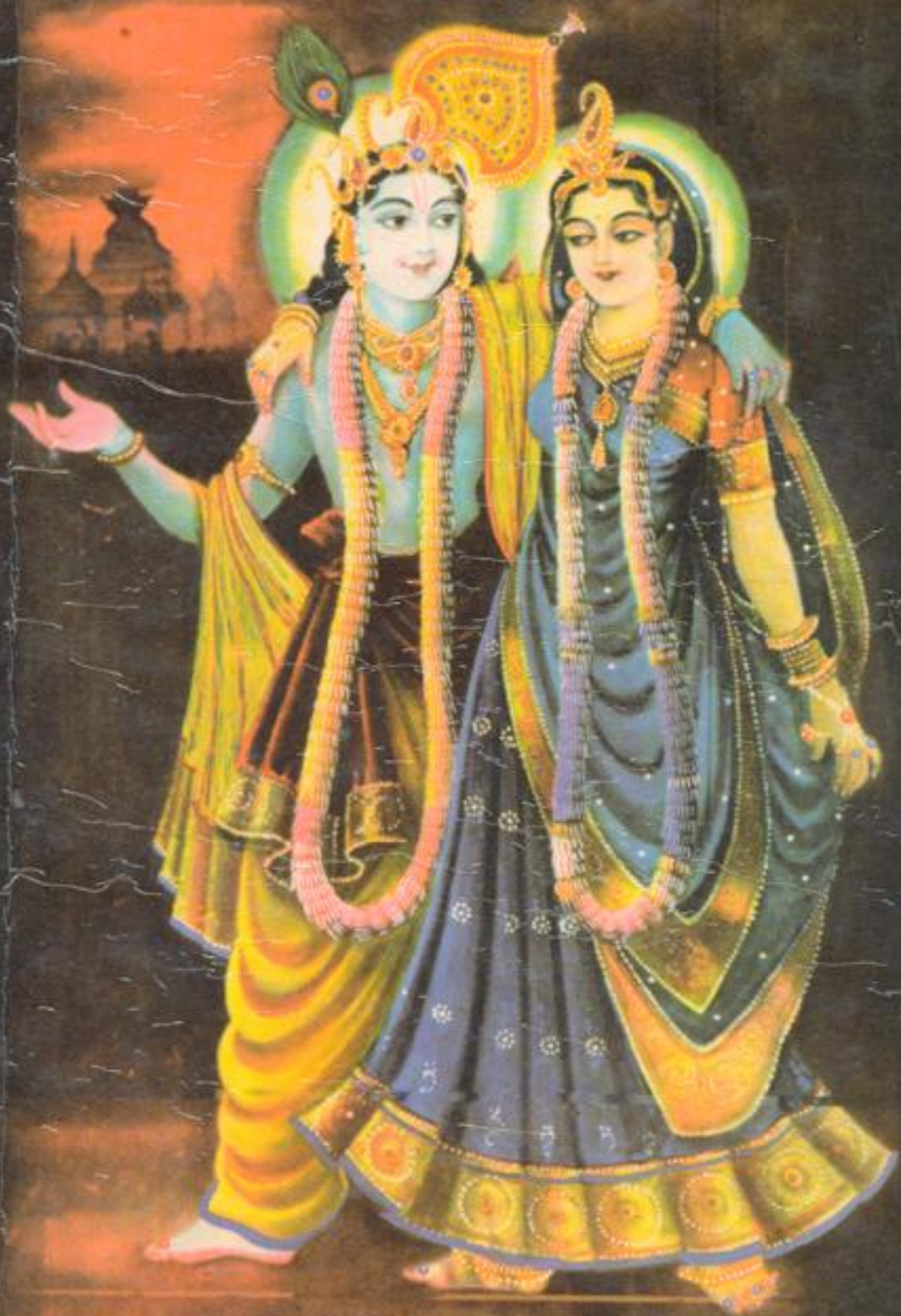


श्रीरासपञ्चाध्यायी



हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीरासपञ्चाध्यायी



हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ मेरे के से ॥ ॥ ॥ ॥

॥ ॥ ॥ ॥

Shri Raspanchadhyaee

By

Hanuman Prasad Poddar

प्रकाशक

गीतावाटिका प्रकाशन

पो०- गीतावाटिका, गोरखपुर

पिन-२७३००६

दूरभाष : (०५५५१) ३१२४४२, ३१७३२६

E-Mail:- rasendu@vsnl.com

प्रथम संस्करण—श्रीराधाष्टमी सं० २०५८ वि०

मूल्य — ३५ रु०

हमारे प्रकाशन एवं कैसेट प्राप्तिके अन्य स्थान

कलकत्ता :- श्रीसुशीलकुमार मूँडा, फोन० ४६४०६००, ४६६२६४१

८, इण्डिया एक्सचेंज प्लेस, (८ वॉ तल्ला)

वाराणसी :- श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार स्मृति सेवा ट्रस्ट, दुर्गाकुण्ड रोड

मुंबई :- भारतीय ग्रामोद्योग वस्त्र भण्डार, १८७, दादीसेठ अग्र्यारी लेन-२

दिल्ली :- श्रीमोहनलाल दुजारी फोन-६४३८६०५, ६४६५२८४

५०४, स्काईलार्क, ६० नेहरू प्लेस, दिल्ली-१६

गाजियाबाद :- श्रीशिवकुमार दुजारी फोन-४७०३११३, ४७०२८६८

कें०आई० १५५, कविनगर, गाजियाबाद-२

वृन्दावन :- श्रीविमल प्रकाश रहेजा, ४६, कालिन्दी कुञ्ज,

बॉके बिहारी कालोनी (हरि निकुंजके पास) वृन्दावन

बीकानेर :- श्रीभगनलाल गाँधी, नाहट्टा मोहल्ला

श्रीहरिः

रासलीला-चिन्तन

(शरदपूर्णिमा पर दिया गया एक प्रवचन)

आज रास-पूर्णिमा है। 'रास' शब्दको सुनकर हमलोग प्रायः जो रासलीला होती है उसीकी ओर देखते हैं, दृष्टि वहीं जाती है। वह रासलीला भी उस दिव्य लीलाको दिखानेके लिये ही है। इसलिये यह आदरणीय है परन्तु वह जो भगवान्‌का रास है उसको थोड़ा-सा समझ लेना चाहिये। 'रास' शब्दका मूल है रस और रस है भगवान्‌का रूप। 'रसो वै सः' (तैत्ति० उपनिषद् २। ७)। एक ऐसी दिव्य क्रीडा होती है जिसमें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन करता है और यह एक ही रस—रस समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य, स्वयं ही आस्वादक, लीला, धाम, विभिन्न आलम्बन और उद्दीपनके रूपमें प्रकट हो जाता है तथा एक दिव्य लीला होती है उसीका नाम 'रास' है।

रासका अर्थ है लीलामय भगवान्‌की लीला और वह लीला है भगवान्‌का स्वरूप। रास भगवान्‌का स्वरूप ही है। इसके सिवाय और कुछ नहीं। भगवान्‌की जो दिव्य लीला है रासकी, यह नित्य चलती रहती है और चलती ही रहेगी। इसका कोई ओर-छोर नहीं है। कबसे शुरू हुई और कबतक चलती रहेगी यह कोई बता नहीं सकता है। कभी-कभी कुछ बड़े ऊँचे प्रेमी महानुभावोंके प्रेमाकर्षणसे हमारी इस भूमिमें भी रासलीला अवतरण होता है। वह अवतरण भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके समय हुआ। उसीका वर्णन श्रीमद्भागवतमें 'रास-पञ्चाध्यायी'के नामसे है। पाँच अध्यायोंमें उसका वर्णन है।

इसमें सबसे पहले वंशीध्वनि है। वंशीध्वनिको सुनकर गोपिकाओंका अभिसार है। श्रीकृष्णसे उनका वार्तालाप है। दिव्य रमण है। श्रीराधाजीके साथ श्रीकृष्णका अन्तर्धान है। पुनः प्राकट्य है। फिर गोपियोंके द्वारा दिये

हुये वरनासन पर भगवान्का विराजना है। गोपियोंके कुछ कूट प्रश्नों—गूढप्रश्नोंका—प्रेमप्रश्नोंका उत्तर है। फिर रास नृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वन-विहार है। अन्तमें परीक्षितके सन्देहान्वित होने पर बन्द कर दिया जाता है रासका वर्णन।

यह बात सबसे पहले समझ लेनी चाहिये, याद रखनेकी बात है—इसीलिये इस रास-पञ्चाध्यायीमें सबसे पहला शब्द आता है 'भगवान्'।

'भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः'

अब ये बाबा (श्रीराधाबाबा) तो बोलते नहीं हैं नहीं तो यह बताते कि 'शरदोत्फुल्ल-मल्लिकाः' का अर्थ क्या होता है? हम तो जानते नहीं हैं। भला, शरद ऋतुमें मल्लिका कैसी? शरद ऋतुमें मल्लिका कहाँसे फूली? और फिर उसके विचित्र भाव हैं, विचित्र अर्थ हैं। यह अनुभवकी चीज है। इतनी बात अवश्य जान लेनी चाहिये कि यह जो कुछ है यह भगवान्में है, भगवान्का है।

यह जड़की सत्ता जो होती है यह जीवकी दृष्टिमें होती है। भगवान्की दृष्टिमें जड़की सत्ता नहीं है। यह देह और देही है, इस प्रकारका जो भेदभाव है यह प्रकृतिके राज्यमें है, जडराज्यमें है। अप्राकृतिक लोकमें जहाँ प्रकृति भी चिन्मय है वहाँ सभी कुछ चिन्मय होता है। वहाँ जो अचित्की प्रतीति होती है कहीं-कहीं वह तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। अचित् वहाँ कुछ है ही नहीं।

इसलिये होता क्या है कि हमारा जो मस्तिष्क है यह जड़-राज्यमें है। हम जीव हैं न! हम जड़-राज्यमें प्राकृतिक चीजोंको—जड़को देखते हैं। जब हम कभी किसी अप्राकृत वस्तुका विचार करते हैं जैसे भगवान्की दिव्य लीला-प्रसंग, रासलीला इत्यादि। यह सर्वथा अप्राकृत—चिन्मयलीला है परन्तु हम विचार करते हैं कामसे, बुद्धिसे—जो बुद्धि जड़में प्रविष्ट है, जो बुद्धि जड़को ही देखती है। अपने जड़-राज्यकी धारणाओंको, कल्पनाओंको, क्रियाओंको लेकर हम उसीका दिव्य-राज्यमें आरोप कर लेते हैं और अपनी सड़ी-गली गन्दी आँखोंसे हम वही सड़ी-गली गन्दी चीजोंको हाड़-मांसकै, रक्तके शरीरको जिसमें विष्टा-मूत्र भरा है इसीकी कल्पना करते हैं। इसीको देखते हैं। चिन्मय राज्यमें हम प्रवेश नहीं करते हैं। इसीलिये रासमें हमलोग स्त्री, स्त्री-पुरुषोंके लीलाकी कल्पना करते हैं पर यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यह परम उज्ज्वल दिव्य रासका प्रकाश है। यह जड़ जगत्की बात तो

दूर रही, हम यहाँ तक कह दें तो अत्युक्ति नहीं कि ज्ञान या विज्ञानरूप जगत्में भी यह प्रकट नहीं होता है। इतना ही नहीं जो साक्षात् चिन्मय तत्त्व है उस परम दिव्य चिन्मय तत्त्वमें भी उस उज्ज्वल रसका लेशाभाष नहीं रहता है।

इस परम रसकी स्फूर्ति तो परमभावमयी श्रीकृष्ण-प्रेमस्वरूपा कृष्णगृहीतमानसा उन श्रीगोपीजनोंके मधुर हृदयमें होती है और वह गोपीका मधुर हृदय भगवान्का ही स्वरूप है। इसलिये इस रसलीलाके यथार्थ रूपको और परम माधुर्यको समझनेके लिये सबसे पहले यह देखना चाहिये कि यह भगवान्की दिव्य चिन्मयी लीला है। गोपियाँ भगवत्स्वरूप हैं, वे चिन्मयी हैं, सच्चिदानन्दमयी हैं। अब यह साधना विधिसे भी उन्होंने मानो एक तरहसे जड़ शरीरका त्याग कर दिया है। सुख शरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग और कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष इनका भी इन्होंने त्याग कर दिया है। गोपिकाओंकी दृष्टिमें क्या है ? यह बहुत समझनेकी चीज है। यह साधनाकी बहुत ऊँची-से-ऊँची चीज है।

गोपियोंकी दृष्टिमें हैं केवल चिदानन्दस्वरूप प्रेमास्पद श्रीकृष्ण, बस ! उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमाभूत आ गया है। यही उनके हृदयमें छलकता रहता है। इसीलिये श्रीकृष्ण उनके हृदयके प्रेमाभूतका रसास्वादन करनेके लिये लालायित होते हैं, लालायित रहते हैं। इसीलिये श्रीकृष्णने मनकी रचना की। इसीलिये उन्होंने गोपांगनाओंका आवाहन किया। इसीलिये इन शरदकी रात्रियोंको उन्होंने चुना और उनको बुलाया। यहाँ पर यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि यहाँ पर कोई जड़ देह है। यहाँ पर गोपियोंको पहचानना चाहिये। शास्त्रोंमें आता है—औरोंकी बात छोड़ दीजिये, ब्रह्मा, शंकर, उद्धव, नारद और अर्जुन ऐसे-ऐसे लोगोंने गोपियोंकी उपासना करके और गोपी भावकी थोड़ी-सी लीला देखनेके लिये वरदान प्राप्त किया और अनुसूया, सावित्री इत्यादि देवियों जो हैं, महान पतिव्रता, ये गोपियोंकी चरणधूलिकी उपासिका हैं। वो कितना बड़ा कि एक मात्र श्रीकृष्णके अलावा और कोई पति है ही नहीं। इस बातको देखनेवाली तो परम पतिव्रता गोपियाँ थीं और कोई था ही नहीं, ऐसा हुआ ही नहीं। यह उससे नीचा भाव है परन्तु इस भावमें भी हम देखें तब हम गोपियोंकी दिव्य लीला पर विचार कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

सबसे पहले यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यह भगवान्की लीला है। भगवान्का सच्चिदानन्दघन शरीर दिव्य है, अजन्मा हैं, अविनाशी है,

हानोपादानरहित हैं, सनातन है, शुद्ध है। इसी प्रकार गोपियाँ भी भगवान्की स्वरूपभूता श्रीराधाजीकी काय-व्यूहरूपा हैं। यह उनकी अन्तरंग शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य और दिव्य है। बस ! यह भाव राज्याकी लीला स्थूल मनसे परेकी बात है। इसलिये जब गोपियोंका आवरण भंग हुआ तब इस लीलाके लिये भगवान्ने उनको संकेत किया, दिव्य रात्रियोंका। उसी संकेतके अनुसार भगवान्ने इनका आवाहन किया। यहाँसे आरम्भ होता है। बहुत संक्षेपमें दो-तीन-चार श्लोकोंकी बात कह देनी है, अधिक नहीं।

यह भगवान्का मिलन कब होता है ? जब किसी और वस्तुकी कल्पना भी मनमें नहीं रहती है और भगवान्के मिलनके लिये चित्त अत्यन्त आतुर हो जाता है। यह दशा जब होती है और भगवान् उसे देखते हैं कि अब यह जरा-सा इशारा पाते ही, जरा-सा संकेत पाते ही सर्वस्वका त्याग तो कर ही चुका है, उस सर्वस्वके त्यागको प्रत्यक्ष करके मेरी ओर आ जायेगा; इस प्रकारकी स्थिति जब भगवान् देखते हैं तो भगवान् मुरली बजाते हैं। भगवान् मुरली बजाते हैं और वह मुरलीकी ध्वनि उन्हींको सुनायी देती है। मुरली जो बजी उस समय ब्रजमें, भगवान्ने बजायी और वह मुरली जिसकी ध्वनि दिव्य लोकोंमें पहुँच-पहुँचकर वहाँके देवताओंको भी स्तम्भित कर देती है, नचा देती है। उस मुरलीकी ध्वनि उस दिन—आजके दिन शारदीय रात्रिके दिन औरोंने नहीं सुनी, मुरली बजी, सब जगह बजी परन्तु उस मुरलीकी ध्वनि किनके कानोंमें गयी ? उनके जिनका हृदय भगवान्से मिलनेके लिये अत्यन्त उत्तप्त था, आतुर था उनके हृदयमें उनके कानोंमें भगवान्की मुरली ध्वनि गयी। मुरली क्या थी ? यह भगवान्का आवाहन था। उनकी साधना पूर्ण हुई। भगवान्ने शारदीय रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका संकल्प कर लिया तो बस, अब मुरली बजी तो क्या हुआ ? यहाँ बड़ी सुन्दर बात लिखी है श्रीमद्भागवतमें—

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।

आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो ज्वलोलकुण्डलाः ॥

(श्रीमद्भागवत १०। २६। ४)

यह स्थिति है भगवान्के विरही साधककी। बड़ी ऊँची स्थिति है। कहते हैं कि मुरली बजी। मुरलीका गीत उन्हें सुनायी दिया। गीत कैसा था ? अनंगवर्धन था। यह जितने भी संसारमें प्रकृतिकी चीज हम देखते हैं इसमें कोई अनंग नहीं है। प्रकृति अनंग नहीं है। प्रकृति अंगवाली है और ये

अंगवाली कोई चीज इनके मनमें रही नहीं। अंगवाली कोई चीज गोपियोंके मनमें नहीं रही तो वह जो अनंग है—अनंग कौन है ? अनंग भगवान् हैं, प्रेम है और कोई अनंग है ही नहीं। इस अनंगकी, इस प्रेमकी वृद्धि करनेवाली वेणुकी ध्वनि इनके कानमें पड़ी। एक शब्द बड़ा सुन्दर है—‘कृष्णगृहीतमानसाः’—जिनके मनको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रखा था। गोपियोंका मन अपने वशमें नहीं। ये ‘श्रीकृष्णगृहीतमानसाः’ नहीं होगी न ! तो उनको घरके कामसे छुट्टी नहीं मिल सकती। जो कृष्णगृहीतमानस नहीं है वह भगवान्के आह्वानको नहीं सुन सकता। वह तो घरमें फँसा है उसको घरकी पुकार सुनायी पड़ती है चारों तरफसे। मुरलीकी पुकार कहाँसे सुनेंगी। इसलिये यह मुरलीकी पुकार ब्रजमें गयी पर उन्हीं ब्रजवालाओंने सुना, घरके लोगोंने सुना। जिनका घरमें मन था न ! वे कृष्णगृहीतमानस नहीं थे। वहाँ तो घरमें ही उनका मानस रम रहा था। घरने ही उनके मानसको पकड़ रखा था। तो ये कैसी थी ? ये कृष्णगृहीतमानसाः—इनके मनको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रखा था। क्या करे आदमी कि यह मन जो है इसको खुला छोड़ दे, हमने तो खुला छोड़ ही रखा है जहाँ चाहता है वहाँ हमें ले जाता है। यह ऐसे खुला छोड़ना नहीं है। वह तो इसे कृष्णमें इसे लगा कर छोड़ना है। विषयोंमें लगे हुये मनको खुला छोड़नेका अर्थ क्या है ? विषयोंसे हटाकर खुला छोड़ दे। विषयोंसे हटकर, विषयोंको मनसे निकालकर मनको खुला छोड़ दे। जहाँ खुला मन हुआ कि भगवान् ले जायेंगे। बिल्कुल सच्ची बात है। भगवान् आते हैं और हमारे मनको खुला नहीं देखते हैं, भगवान् आते हैं पर हमारे मनको किसीके द्वारा पकड़ा हुआ देखते हैं, हमारे मनमें किसीको बैठा देखते हैं। भगवान् देखते हैं कि भाई ! इसका मन तो खाली नहीं। इसका मन तो खुला नहीं और लौट जाते हैं।

इसलिये मनको गोपियोंने खुला छोड़ दिया। सब चीजोंसे मनको खोल दिया। मनके जितने संसारके बन्धन थे वह त्याग दिये, काट दिये। ‘मदर्थं त्यक्त दैहिकाः’ तब क्या हुआ कि जब मन इनका ऐसा हो गया कि जिसमें संसार रहा नहीं तो भगवान्ने आकर पकड़ लिया और फिर गोपियोंके मनको अपने मनमें ले गये और उनके मनको अपने मनमें बैठा दिया। ‘ता मनमनस्काः’ का यही अर्थ है कि गोपियोंका अपना मन था नहीं और उनके मनमें श्रीकृष्णका मन आ बैठा। उनका मन कहाँ गया ? ‘कृष्णगृहीतमानसाः।’

गोपीभावकी जब हम बात करें तो सबसे पहले यह सोचना चाहिये

कि हमारा मन संसारसे मुक्त होकर खाली होकर भगवान्‌के द्वारा पकड़ा जा चुका है कि नहीं। भगवान्‌ने हमारे मनको पकड़ लिया है कि नहीं। अगर नहीं पकड़ा है तो हम गोपी नहीं बन सकते हैं। **कृष्णगृहीतमानसाः**—उस वेणुगीतको जो भगवान्‌ने गाया वह अनंगवर्धन गीत था। अनंग-प्रेम अर्थात् भगवत्प्रेमको बढ़ानेवाला उस गीतको सुना उन लोगोंने जिन श्रीगोपांगनाओंका मन श्रीकृष्णने पहले ही ले रखा था। उसे सुनते ही क्या हुआ ? कोई धनका अत्यन्त लोभी हो और धनकी आवश्यकता हो और उसे पता चल जाय कि अमुक जगह धन पड़ा है और वह जानेसे मिल जायेगा। तब वह किसीको साथ नहीं लेगा और कोई सलाह नहीं करेगा। क्योंकि वह तो धनका लोभी है। जहाँ सुनी धनकी बात, वहाँ भागा। इसी प्रकार कहते हैं कि ब्रज सुन्दरियाँ जो थीं वे 'अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः'—इन्होंने कहा नहीं कि हम जा रहे हैं और तुम भी चलो। कहा नहीं क्योंकि ये तो कृष्णगृहीतमानसा थीं। वहाँसे आया आह्वान तो बिना किसीसे कहे—सुने चल दीं। और चली कैसे ? धीरे-धीरे नहीं, मौजसे नहीं, वे दौड़ीं। अपने आपको रोक नहीं सकीं, ठहर नहीं सकीं। चालमें धीमापन नहीं ला सकीं। दौड़ीं जितनी तेजीसे दौड़ सकती थीं।

'ज्वलोलकुण्डलाः' यह बताते हैं कि दौड़नेमें क्या हुआ। उनके दौड़नेसे उनके कानोंके कुण्डल सब-के-सब हिलने लगे। यह दौड़नेका चिह्न बताते हैं कि वे ज्वलोलकुण्डला दौड़ीं अर्थात् इतने जोरसे दौड़ीं कि उनके कानोंके कुण्डल हिलने लगे। असलमें वही आभूषण हैं जो भगवान्‌से मिलनेके लिये हिलते हैं। नहीं तो यह जड है, पत्थर है, उसमें रखा क्या है ? वे गयीं और पहुँच गयीं। **'आजागमुः यत्र स कान्तः'**—जहाँ पर वह कान्त-स्वामी-प्रियतम थे। प्रियतम एक भगवान् ही हैं और संसारमें कोई प्रियतम, कान्त आदि है नहीं। हम लोगोंने न जाने किस-किसको कान्त बना रखा है। स्त्रियोंके ही नहीं, पुरुषोंके भी कान्त होते हैं। असली कान्तके पास जा पहुँचीं। ये एक-एक अलग-अलग गयीं। प्रश्न हुआ कि ये घरके काम सहेज करके गयी होंगी कि वैसे ही गयीं। आप कहते हैं कि ऐसे ही भाग गयीं तो कैसे ऐसे भाग गयीं। कहा कि ये कृष्णगृहीतमानसा थीं। मुस्लीकी ध्वनि सुनते ही भागीं। भागी क्यों ? **समुत्सुकाः**—वे श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये उत्सुक थीं। यही साधकका रूप होता है। यह जो उनके विशेषण हैं—**'कृष्णगृहीतमानसाः, समुत्सुकाः'**—यह बताते हैं उनकी स्थितिको। **समुत्सुकाः**—ये उतनी उत्सुक थीं भगवान्‌से मिलनेके लिये कि जहाँ मिलनेकी

बात किसी भी रूपमें आयी कि उनके और कुछ सूझा ही नहीं। क्या किया ? अब स्थिति बताते हैं—‘काश्चित् दुहन्यः दोहं हित्वा’ (१०। २६। ५)। कुछ गोपियों गाय दुह रही थी। थन हाथमें, दूध दुह रही हैं, नीचे बर्तन रखा है और मुरलीकी ध्वनि कानमें आयी तो ‘कृष्णगृहीतमानसाः, समुत्सुकाः’ जो थीं वह बस दुहना छोड़करके भागीं। कहाँ भागीं ? जिधरसे वह वेणुनाद आया था। उस वेणुनादकी ओर लक्ष्य करके वे भागीं। यह थी दुहनेवालोंकी दशा और कुछ गोपियाँ दूध दुह लायी थीं तो उन्होंने दूधको चूल्हे पर रख दिया था औटानेके लिये और जहाँ यह आवाहन आया तो अब औटाये कौन ? जैसे यह दुहना छोड़कर भागीं वैसे ही ये भी भागीं चाहे दूध चूल्हे पर उफनकर गिर जाय।

यह जबतक जगत्की स्मृति रहती है तबतक हम भगवान्का आह्वान नहीं सुनते। ज्योंही भगवान्का आह्वान सुना तो सुनते ही जगत्की स्मृतिको भूल गया। साधनाका यह ऊँचा स्तर है। जगत्को याद रखते हुये हम जो भगवान्की ओर जाते हैं तो हम भगवान्की ओर नहीं जाते बल्कि हम जगत्में रमते हैं भगवान्का नाम लेकर। उसी जगत्में रमते हैं क्योंकि उसीको स्मृतिमें रखते हैं। जहाँ भगवान्का आह्वान सुनायी दिया तो जगत् भूल गया। दूध दुहती हुई गोपियाँ दुहना भूल गयीं और दूध भूल गयीं चूल्हे पर। कुछ गोपियाँ और काम कर रही थीं। कुछ हलवा बना रही थीं अपने घरवालोंके लिये, उसको उतारे बिना ही चल दी। उतारनेका होश रहता तब न उतारतीं। बिना उतारे ही भाग गयीं। यह साधककी स्थिति होती है। जब भगवान्का आवाहन साधक सुनता है तो वह जगत्की ओर नहीं देखता। बुद्धने नहीं देखा; जो प्रेमके साधक रहे। जरा—सा एक बार पुत्रकी ओर देखा फिर मुँह मोड़ लिये, भाग गये। इस प्रकारसे हलवेको चूल्हेसे उतारे बिना ही भाग गयीं। बोले—यह तो अपना काम था, कोई दूसरेका काम कर रही हों तो ? ‘परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा’—जो घरवालोंके भोजन परोस रही थीं वे ऐसा कैसे कर सकती थीं ? सम्यता होती कि परोसनेका काम पूरा करके जा सकती थीं पर पूरा करे कौन ? सब ‘कृष्णगृहीतमानसाः’ और ‘समुत्सुका’ थीं। वह तो दूसरा काम पूरा करनेके लिये चलीं। खैर, यह कोई बात नहीं। बच्चे बड़े प्यारे होते हैं। कोई—कोई बच्चोंको दूध पिला रही थीं। ‘शिशून् पयः पाययन्त्यः’—शिशुओंको दूध पिलाती हुई भी छोड़कर भाग गयीं। शिशु रोते रहे और ‘काश्चिद् पतीन् शुश्रूषन्त्यः’—कुछ अपने पतियोंकी सेवा कर रही थीं। वे भी भाग गयीं। अब इसका उल्टा अर्थ जो ले लेगा वह धूलमें जायेगा।

यहाँ लौकिक अर्थ नहीं है। यह परम उच्च साधनाकी बात है। जहाँ जगत् नहीं रहता है। इसलिये इसमें आगे बात आयी है। रासपञ्चाध्यायी पढ़े तो समझमें आयेगा कि भगवान्ने पतिव्रतकी बात याद दिलायी जो साधारण स्त्रियोंके लिये होती है।

कुछ गोपियाँ खाना खा रही थीं। इतना स्वार्थ होता है कि आदमी सोचता कि खा लें तो चलें। 'अश्नन्त्यं भोजनं अपास्य'—कई भोजन कर रही थीं। थाली पड़ी रही वहीं पर और बोले महाराज ! और क्या—क्या हुआ ? 'अन्याः लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः'—कुछ अंगराग लगा रही थीं और कुछ उबटन लगाकर नहा रही थीं और कुछ उबटन लगा चुकी थीं और नहाना था उनका उबटन लगा ही रह गया और छोड़कर चल दीं। कुछ नेत्रोंमें अञ्जन लगा रही थीं। 'काश्च लोचने अञ्जन्त्यः'—एक आँखमें काजल लगा लीं और दूसरेमें वैसे ही रह गया। छूट गया और 'काश्चित् व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः कृष्णान्तिकं ययुः' (१०। २६। ७) पहन रही थीं चोली और सोचा कि ओढ़नी है तो उसको सिरपर डाल लिया। उलटे कपड़े पहन लिये और हाथका गहना पैरमें पहन लिया। कानका गहना अंगुलीमें डाल लिया। पता ही नहीं रहा कि यह गहना क्या है ? बस ! उलटे—सीधे कपड़े पहन लिये। विचित्र शृंगार हो गया। जहाँ तक अपना शृंगार दीखता है, शृंगार करें वहाँ तक शृंगारका दासत्व है, शृंगारकी गुलामी है और वहाँ जब भगवान्का आह्वान होता है तो यहाँके शृंगारका फिर वहाँ पर कोई मूल्य नहीं रहता है। यह सारा शृंगार बिगड़कर वहाँका शृंगार बनता है।

इनके लिये एक शब्द और आया है, वह शब्द है, वैसा ही है—'गोविन्दापहृतात्मानाः।' गोविन्दने इनके अन्तःकरणका हरण कर लिया था। यह कभी सौभाग्य हो कि हमारे मनको भी भगवान् हरण कर ले, चुरा लें। वे क्यों चुरा लें ? यहाँ बस यही एक समझनेकी बात है। हम यह कामना करें, इच्छा करें कि हमारा मन गोविन्द ले जाय। जब तुम गोविन्दके लिये मनको खाली कर रखोगे। उसमें मरा हुआ बोझा कौन उठा कर ले जाय ? हम तो मनको हरण करके ले जायेंगे। चोरी करके ले जायेंगे। पर तुम अपने मनको जगत्से तो खाली करो। उसमें कूड़ा करकट भर रखे हो उसे निकाल दो। तब गोविन्द हर कर ले जायेंगे। गोपियोंने सब कुछ अपने मनसे निकाल दिया। इसलिये उनके मनको गोविन्द हर कर ले गये। 'गोविन्दापहृतात्मानाः' 'कृष्णागृहीतमानसाः', 'समुत्सुकाः' ये इनके नाम हैं।

इसी परम त्यागकी परम ऊँची जो समर्पणकी लीला है उनमें

आपसमें ही। दूसरे और कोई नहीं है। यह खाली लोगोंको दिखानेके लिये दो बने हैं लेकिन हैं एक ही। कृष्ण अपने आप ही लीला करते हैं पर यह दिखलाया है इसमें कि कितना ऊँचे-से-ऊँचा त्याग होना चाहिये। जो भगवान्की ओर जाना चाहता है उस साधकमें। यह उलटी बात है कि लोग देखते हैं कि इसमें भोग ही भोग है पर इसमें तो केवल त्याग ही त्याग है। इसमें कहीं भोग है ही नहीं। यह तो इसी त्यागसे ही आरम्भ होता है और त्यागमें इसकी पराकाष्ठा है। जब सारा-का-सारा त्याग हो करके श्रीकृष्णके सुखमें जाकर विलीन हो गया। उनका जीवन, उनकी क्रिया, उनके सारे काम, उनकी कुल-चेष्टायें श्रीकृष्णमें जाकर विलीन हो गयीं। इस प्रकारका था इनका त्यागमय जीवन।

तीन बात करनी होगी अगर किसीको गोपी बनना हो तब। साड़ी, लहंगा नहीं मैंगाना है। हम सब गोपी बन सकते हैं।

(१) अपने मनसे जगत्को निकाल देना।

(२) भगवान्को देनेके लिये मनको तैयार कर देना।

(३) किसी भी कारणसे, किसी भी हेतुको लेकर कहीं पर भी अटकनेकी भावना न करना।

जहाँतक हमारे मनमें हमारे विषय भरे हैं, जहाँतक विषयोंको निकाल करके भी अगर हम ज्ञान-विज्ञानकी ओर जाते हैं तो भगवान्को अपना मन देना नहीं चाहते हैं। वहाँ भी भगवान् मन नहीं लेते हैं। मन अमन हो जाता है, मन मर जाता है, मिट जाता है पर मन भगवान्का नहीं होता है और तीसरी बात जो सबके लिये आवश्यक है—अटकना। यह अटकना गोपीमें नहीं है। ये कहीं भी अटकी नहीं। न गहनोंने अटकाया, न कपड़ोंने अटकाया, न भोजनने अटकाया, न घरवालोंने अटकाया। एकको अटकाया वह पहले पहुँच गयी।

अन्तर्गृहगताः कारिचद् गोप्योऽलम्बविनिर्गमाः।

कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मौलितलोचनाः॥

(श्रीमद्मा० १०। २६। ६)

किसीको रोका तो वह पहले पहुँच गयी। प्राणोंको देकर पहुँच गयी। मतलब यह है कि यह आजकी जो शरदपूर्णिमाकी रात्रि है यह ऊँची बातोंको छोड़ दें बस, इतनी बात कि यह साधनाके लिये बड़े ऊँचे आदर्शको बतलानेवाली रात्रि है। इस दिन साधनाकी परिपूर्णताका जो परमफल होता है यह प्राप्त किया श्रीगोपागनाओंने। बड़ी विलक्षण बात इसमें यह है जो

पहले कही थी कि गोपियोंने अपने हृदयमें उस विशुद्ध प्रेमामृतको भर रखा था कि उस प्रेमामृतकी आकांक्षा भगवान्को हो गयी। उन निष्काममें, परम अकाममें, पूर्णकाममें उस पवित्र मधुर प्रेम—रसास्वादनकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। भगवान्को सुख देने गयीं, सुख लेने नहीं। यही सार है। जहाँतक हम भगवान्के द्वारा सुख चाहते हैं वहाँ तक हम भगवान्के भक्त नहीं हैं। एक प्रेमी ही ऐसा है और कोई ऐसा नहीं है। बड़े-बड़े भक्त भी भगवान्से सुख चाहते हैं कि भाई ! हम समीप ही रहें आपके। आपके लोकको प्राप्त कर लें। सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि—यह सब प्राप्त कर लें। दर्शन दे दें हमको। ये बाबा कहते हैं कि यदि दर्शन देनेसे तुमको सुख न होता हो तो दर्शन मत दो। भोगकी तो बात ही नहीं। तुम्हारे दर्शन भी यदि तुम्हें सुखकर न हो तो हमें नहीं चाहिये। हमें चाहिये केवल तुम्हारा सुख। इस प्रकार भगवान्को सुख देनेवाले केवल भगवान्को देनेके लिये ही पैदा होते हैं। केवल प्रेमी देनेवाले होते हैं बाकी सभी लेनेवाले होते हैं। जिज्ञासु साधक जो हैं मुमुक्षु वह मोक्ष चाहता है। महाराज ! हमको मोक्ष दे दो। छुटकारा मिल जाय बन्धनसे। सकामीकी तो बात ही क्या ? और भोग चाहनेवाले तो नरकके कीड़े। उनकी तो बात ही नहीं है।

जो गोपियों वहाँ पर गयीं वे भगवान्को देनेके लिये गयीं। अब भगवान्को देकर उनको सुख मिलेगा। जब भगवान्को दिया, भगवान्को सुखी देखा तो अपनेको परम सुख और उनको सुखी देखा तो भगवान्को परम सुख। 'एक दूसरेको सुखी बनाकर सुखी होना'—इसीका नाम 'रास' है। यह रास नित्य चलता है।

यह रासपूर्णिमा जो आजकी है यह त्यागकी पराकाष्ठाका रूप बतानेवाली है, साधकका रूप बतानेवाली है और सब तो बाधक हैं। जो भोगोंमें रहे वह बाधक और जो भोगोंसे हटे वह साधक। जो भोगोंमें रहता है वह अपने आपको बाधा देता है। सारे भोगोंसे हटकर, सारे भोगोंका परित्याग करके भगवान्के पवित्र आह्वानपर गोपियों अपने आपको ले गयीं वहाँ भगवान्के श्रीचरणारविन्दमें और वहाँ ले जाकर भगवान्को सुखदान दिया। यह रासका स्वरूप हैं। ऐसे तो रासकी बड़ी-बड़ी, ऐसी-ऐसी बातें हैं जो बातें कभी चुकती ही नहीं इसमें बहुत-बहुत ऊँचे दूसरे भाव हैं। जिन भावोंके लिये न तो समय है, न अवकाश है और न पूरे जानते ही हैं।

इसलिये इतनी बात अपनी जानकारीके लिये, अपने लिये होनी

चाहिये। वह यह है कि भगवान्‌के लिये त्याग करें। विषय-भोगका त्याग करें। संसारकी आसक्ति, ममताका त्याग करें। सारी आसक्ति, सारी ममता भगवान्‌में जाकरके हमारी लग जाय। इतना हम गोपी भावसे ले लें, इतना ही हम राससे ले लें तो हमारा जीवन पवित्र हो जाय। फिर रासमण्डलमें तो भगवान्‌ ले जायेंगे। वह तो कहीं उनकी इच्छा होगी या श्रीराधारानीकी कहीं कृपा होगी वह किसी सखी-भञ्जरीसे कह देंगी अपने लिये तो वह ले जायेगी। हम अपने पुरुषार्थसे नहीं जा सकते। हमारा पुरुषार्थ जहाँ समाप्त होता है वहाँ प्रेमका पाठ आरम्भ होता है। जहाँ चारों पुरुषार्थोंकी सीमा इधर रह जाती है वहाँ प्रेमकी सीमाका प्रारम्भ होता है। यह गोपी प्रेम है और रास तो उसका एक प्रत्यक्ष पूर्ण-स्वरूप है। पूर्णतः प्रेम तो किसीको कह ही नहीं सकते। कहीं पूर्ण है ही नहीं। यहाँ तो रास-का-सारा अपूर्ण रहता है। जितना मिला उतना ही थोड़ा। इस प्रेमराज्यमें प्रवेश करनेवालोंके लिये यह गोपियोंका उदाहरण है। श्रीकृष्णमानसा होकर वे श्रीकृष्णके चरणोंमें अपनेको समर्पित कर देते हैं कृष्णको सुखी बनानेके लिये। यह गोपी भाव है।

प्रेम-तत्त्व

पूर्ण त्यागमय सर्वसमर्पणका जिनके अनन्य अभिलाष।
 निज-सुख-वाञ्छा-लेश-गन्धका त्याग, सहज मन परमोल्लास।।
 प्रियतम-सुख ही एकमात्र है जिनके जीवनका आनन्द।
 पूर्णानन्द ममत्त्व नित्य प्रियतम-पद-पंकज में स्वच्छन्द।।
 प्रियतम मनसे जिनका मन है, प्रियतम प्राणोंसे हैं प्राण।
 प्रियतम सेवारत नित श्रवणेन्द्रिय त्वग्-दृग्-रसाना-घ्राण।।
 नित्य कृष्ण-सेवा-रसरूपा सर्वसद्गुणोंकी जो खान।
 सर्वसुखोंके दाता को भी देती अहंरहित सुख-दान।।
 ऐसी प्रियतम-सुख-स्वरूपिणी, कृष्ण गतात्मा निरहंकार।
 गोपीजन, है भरा हृदय शुचि प्रेम-सुधारस पारावार।।
 जिनके धावन प्रेमामृत-रस-आस्वादनके हित भगवान्।
 शरद-निशाओंमें मधु मन कर निर्मित रचते रास विधान।।
 पुन्यमयी उन गोपीजनके पदरजमें सतकोटि प्रणाम।
 जिसे चाहते उद्धव बनकर लता-गुल्म औषधि अभिराम।।

(पद-रत्नाकर, पद सं० ७२६)

रासलीला—चिन्तन—२
(स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) में दिये गये प्रवचन)

(१)

ब्रह्मादिजयसंरुद्धदर्पकन्दर्पदर्पहा ।

जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डितः ।।

(ब्रह्मादि लोकपालोंको जीत लेनेके कारण जो अत्यन्त अभिमानी हो गया था, उस कामदेवके दर्पको दलित करनेवाले गोपियोंके रासमण्डलके भूषणस्वरूप श्रीलक्ष्मीपतिकी जय हो ।)

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें पाँच अध्याय हैं २६ से ३३ तक । इन पाँच अध्यायोंके नाम हैं रास—पञ्चाध्यायी । इनमें भगवान्की रास—लीलाका प्रसंग है और ऐसा भागवतके विद्वान् लोग मानते हैं कि सारे भागवतमें जो भागवत शरीर है वह है दशम स्कन्ध और उसमें जो आत्मा है वह है रास—पञ्चाध्यायी । रासपञ्चाध्यायीको अगर भागवतमेंसे निकाल दिया जाय तो भागवत आत्माविहीन रह जाती है, ऐसा मानते हैं । रासपञ्चाध्यायीमें भगवान्के जिस प्रेम—रस—तत्त्वका वर्णन है उसका सार, उसका जो परमतत्त्व है उसका सार बड़े उज्ज्वल रूपमें प्रकाशित है । इसीको पंचप्राण भी कहते हैं । जैसे पंच प्राण होते हैं वैसे ही भागवतके पंचप्राणस्वरूप यह रासपञ्चाध्यायी है । यह रासपञ्चाध्यायी है तो बड़े ऊँचे तत्त्वकी चीज परन्तु इसमें वर्णन है शृंगारपरक । इसलिये भगवान्की दिव्य लीलाका भाव न समझकर केवल बाहरी दृष्टिसे देखनेपर इसमें केवल शृंगार रसकी बात दिखाई देती है और मनुष्यको भ्रम हो जाता है । इसलिये शायद शुकदेवजीने सबसे पहले रासपञ्चाध्यायीके श्लोकमें 'भगवान्' शब्द रखा ।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।

(श्रीमद्भा० १० । २६ । १)

'भगवानपि'—भगवान्ने भी, ऐसा कहा कि—'भगवानपि शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ता रात्रीः वीक्ष्य योगमायामुपाश्रितः रन्तुं मनश्चक्रे' । शुकदेवजीने कहा कि भगवान्ने भी जिन रात्रियोंमें शारदीय मल्लिका पुष्प

खिले हुए थे; उन रात्रियोंको देखकर योगमायाको प्रकट करके रमण करनेका मन किया, संकल्प किया। इसमें सबसे पहला शब्द आया है भगवान्।

रास-पञ्चाध्यायीकी बात सुननेके पहले यह समझ लेना चाहिये कि यह कोई कविता पाठ नहीं हो रहा है। यह भगवान्की लीला है। भगवान्की लीला समझकर पढ़ना, सुनना, कहना, यह रासपञ्चाध्यायीमें सबसे पहले करना चाहिये। असलमें इसके कोई लौकिक प्रसंग है भी नहीं। आगे आयेगा कि भगवान्का एक नाम 'मन्मथमन्मथ' है। मनको मथ देता है जो कामदेव; उसके मनको यह मथनेवाले हैं। तो काममें जो शक्ति पैदा होती है वह भगवान्से होती है। जैसे लोहेका कोई पिण्ड हो और वह अग्निमें गरम कर दिया जाय तो वह सबको जला देगा परन्तु क्या अग्निको जला सकता है। उसमें जो सबको जलानेकी शक्ति है, वह तो अग्निसे ही आयी है। इसलिये अग्निको नहीं जला सकता। इसी प्रकार काममें जो शक्ति है वह शक्ति आयी है भगवान्से जो मन्मथमन्मथ हैं। भगवान्में किसी प्रकारका कोई विकार आ जाय यह सम्भव नहीं।

दूसरी बात यह है कि इसके श्रोता हैं महाराज परीक्षित; जो स्वयं वैराग्यवान् हैं, मुमुक्षु हैं, धर्मको जाननेवाले हैं और मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठे हैं। मरणका समय है। उनकी सात दिनमें मृत्यु हो जायेगी और चार दिन व्यतीत हो चुके हैं। मृत्यु आसन्न है। मृत्युके समय कोई किसीको लौकिक बात सुनावे और वह सुने यह बनती नहीं। दूसरी बात सुननेवाले कोई ऐसे आदमी हों जो उलटी-सीधी बात भी सुन लें ऐसे आदमी परीक्षित नहीं हैं। इससे भी और ऊँची बात यह है कि सुनानेवाले कौन ? जो लडकपनसे विरक्त है। ब्रह्मविदोंमें वरिष्ठ, जो ब्रह्मको जाननेवाले लोग हैं उन लोगोंमें भी जो सबसे ऊँचे, परम योगी, जीवनमुक्त, सारे ऋषि-मुनियोंके द्वारा जो पूजित हैं, जिनको देखकर ही तमाम ऋषि-मुनि आ गये। ऐसे शुकदेवजी महाराज बोलनेवाले, परीक्षित सुननेवाले और तीसरी बात वहाँ श्रोता सारे-के-सारे त्यागी ऋषियोंका, मुनियोंका मण्डल। इसलिये यहाँ कोई लौकिक शृंगारकी बात हो, यह सम्भव नहीं।

भगवान्की जो परम दिव्य अन्तरंग लीला है। वह लीला जो उनकी स्वरूपभूता राधाजीके साथ है। राधाजी क्या हैं ? यह भगवान्की जो आह्लादिनी शक्ति हैं, भगवान्का जो आनन्दांश हैं वही राधाका श्रीविग्रह बना है और जितनी भी गोपियाँ हैं वे उन राधाजीकी काय-व्यूहरूपा हैं। उन्हींका

यह सारा मण्डल है। श्रीकृष्णप्रेममयी जो गोपांगनाएँ हैं उनके साथ जो भगवान्की रसमयीलीला है—उसका वर्णन रास-पञ्चाध्यायीमें है। 'रास' शब्दका मूल है रस। भगवान्का उपनिषद्में एक नाम आता है—रस 'रसो वै सः' (तैत्तिरीयोपनिषद्/२/७) रस जो है वह स्वयं भगवान्का एक नाम है। श्रीकृष्ण ही स्वयं रस हैं। जिस एक दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका रसास्वादन करे अर्थात् एक ही रस रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद, आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन और उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे उसका नाम रास है।

यह जरा समझनेका विषय है कि भगवान् स्वयं ही इस रसका स्वाद लेनेवाले हैं, और स्वयं ही स्वाद हैं और स्वयं ही स्वादकी वस्तु हैं। आस्वाद, आस्वादक और आस्वाद्य एक ही रस इन अनेक रूपोंमें प्रकट होकर और स्वयं ही अपने-आप ही आलम्बन बनता है तथा अपने-आप ही उद्दीपन बनता है। यों बनकर जो क्रीडा करता है उसका नाम रास है। यह रास जो है यह भी लीलामय भगवान्का ही स्वरूप है। यह रासलीला जो है—क्रीडा, यह क्रीडा भी भगवान्का स्वरूप है। भगवान्की दिव्य लीला जो भगवान्का दिव्य धाम है वहाँ तो नित्य-निरन्तर हुआ ही करती है। रासलीला ही चला करती है। परन्तु भगवान्की विशेष कृपासे कभी-कभी यह सारा-का-सारा दिव्य धाम इस मू-मण्डलपर उतर आता है।

इस वाराहकल्पमें भगवान् स्वयं जब यहाँ पधारे। भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके जो प्रसंग हैं वे विभिन्न हैं। कभी भगवान् विष्णु कृष्णके अवतारके रूपमें आते हैं। कभी कोई अंश भी कृष्णके अवतारके रूपमें आते हैं और इस वाराहकल्पमें भगवान् स्वयं, अपने-आप परात्पर जो परब्रह्म हैं गोलोक-निवासी, वे स्वयं पधारे हैं। जब यह स्वयं पधारते हैं तो उनके साथ सारा-का-सारा मण्डल पधारता है। सबका अवतरण होता है। यह पधारते हैं क्यों? जब कोई इस तरहकी परिस्थिति होती है तब जैसे जब वेदकी ऋचाओंने, ऋषियोंने, दण्डकारण्यके मुनियोंने इस प्रकारके वर प्राप्त कर लिये कि जिसके लिये भगवान्को स्वयं पधारकर रासमण्डलमें रास करना आवश्यक हो गया।

असुर-मारण लीला तो भगवान्के विष्णु अवतारका कार्य है। जब स्वयं भगवान् आये तो विष्णुभगवान् भी इसमें समा गये। नारायण भी समा गये, भगवान्में सितकेश कृष्ण भी समा गये। सारे अवतारोंके कार्य भगवान्के द्वारा ही हो गए। भगवान् स्वयं ही मूमण्डलपर अवतीर्ण हुए और अवतीर्ण

होकर उन्होंने यह लीला की। इस रासपञ्चाध्यायीमें मानवीय भाषामें वर्णन है और वर्णनमें वंशीध्वनि है सबसे पहले, इसके बाद गोपियोंका अभिसार है। अभिसार कहते हैं भगवान्का आवाहन मिलनेपर भगवान्से मिलनके लिये जो चित्तमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न होती है और वह व्यग्रता सब कुछ भुला देती है तो सब कुछ भूलकर भगवान्से मिलनेके लिये जो व्यग्र होकर दौड़ पड़ता है उसका नाम अभिसार है। पहले भगवान्की वंशी ध्वनि होती है, उसके बाद गोपियोंका अभिसार होता है, गोपियाँ निकल पड़ती हैं। फिर भगवान् श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत होती है। दिव्य रमण हैं। राधाजीके साथ भगवान् श्रीश्यामसुन्दरका अन्तर्धान है, फिर प्राकट्य है, फिर गोपियोंके द्वारा दिये हुए वस्त्रासनपर भगवान्का विराजना है, फिर गोपियोंने कूट प्रश्न किया है कि आप कौन हैं ? उसका उत्तर है फिर रास-नृत्य है, क्रीडा है, जलकेलि है, वन-विहार है। उसके बाद शुकदेव और परीक्षितके प्रश्नोत्तर हैं, फिर इसकी समाप्ति है। इतने प्रसंग इसमें हैं। इसमें प्रसंग हैं मानवीय भाषामें ही परन्तु यह मानवीय क्रीडा नहीं है।

एक बात पहले यह समझनेकी है, रास पञ्चाध्यायीपर कुछ कहनेसे पहले इन चीजोंको समझ लेना, जान लेना आवश्यक है कि भगवान्का जो शरीर है यह जड नहीं है। भागवतमें आया है कि—

‘स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि’ (१०। १४। २)

हमारे शरीरकी भौति भगवान्का शरीर जड नहीं है। अस्थि, मज्जा, मेद इत्यादिसे यह बना हुआ नहीं है। असलमें तो जडकी सत्ता ही नहीं है। जडकी सत्ता है। यह होती है केवल जीवकी दृष्टिमें। भगवान्की दृष्टिमें जडकी सत्ता नहीं है। यह देह और यह देही है। इस प्रकारका जो भेद है यह भी प्रकृतिके राज्यमें होता है। भगवान् प्रकृतिसे परे है, जो अप्राकृतिक लोक है उसकी प्रकृति भी अप्राकृत है, चिन्मयी है। हमारे यहाँ जिस प्रकृतिसे संसारका उदय होता है, संचालन होता है इसमें तीन गुण रहते हैं—सत्व, रज और तम। इन्हीं तीनों गुणोंकी लीला चलती है। भगवान्के दिव्य धाममें जो प्रकृति है वह भी चिन्मय है। वहाँ सब कुछ चिन्मय है। वहाँ अचित्की प्रतीति तो केवल भगवान्की लीला सिद्धिके लिये होती है। इसलिये यों कहना चाहिये कि जड राज्यमें रहनेवाला जो हमारा मस्तिष्क है, यह जब भगवान्की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है; तब वह अपनी पूर्व वासनानुसार जड राज्यकी धारणाओंको, कल्पनाओंको, क्रियाओंको

देखकर वैसा ही आरोप करता है। शायद यह बात समझमें न आयी हो।

यह हमलोग जिस संसारमें रहते हैं इस संसारमें जड़ प्रकृतिका ही सारा काम है। बच्चा खा रहा है तो हम देखेंगे कि यह बच्चा अन्न खा रहा है और प्राकृतिक अन्न खाना दीखता है परन्तु यही चीज जब भगवान्में होती है तो भगवान् खानेवाले इस बच्चे जैसे नहीं हैं उनका खाना ऐसा नहीं है। यह तो भगवान्की उस लीलाके लिये अचित्की—जो चित्त नहीं है, जड़ है, उस जड़की प्रतीति होती है, उस चेतनके विलाससे। इसका शास्त्रीय नाम है—चिद्विलासमें अचित्की प्रतीति लीला हेतुसे। भगवान्के रासमें भी हम देखते हैं कि स्त्रियाँ आती हैं, स्त्रियोंसे भगवान् बोलते हैं, स्पर्श करते हैं, उनसे बातचीत होती है, छिप जाते हैं, उदय हो जाते हैं, जलकेलि होती है, क्रीडा होती है। हमारी धारणामें हमारे मस्तिष्कमें यह जड़ राज्य बैठा हुआ है तो हम अपनी बुद्धिके अनुसार वहाँ भगवान्में भी जड़ताकी कल्पना करके हमारे इस लोकमें जैसी चीजें होती हैं उन्हींका भगवान्में आरोप कर लेते हैं। इसलिये दिव्य लीलाका जो छिपा हुआ रहस्य है उसे हम जान नहीं पाते—यह क्या है ?

यह रस वस्तुतः एक परम उज्ज्वल रसका दिव्य प्रकाश है। तो यहाँ जड़ जगत्की बात तो दूर रही, यह जो ज्ञान और विज्ञानका जगत् है उसमें भी रासका प्राकट्य नहीं है। यही बड़ी विचित्र बात है कि जहाँ ज्ञान—विज्ञान प्रकट रहता है वहाँपर प्रेम प्रकट नहीं होता और प्रेमराज्यके बिना रास नहीं होता। तो जहाँ रास है वहाँ ज्ञान—विज्ञानका जगत् भी अप्रकट है। तो जड़ राज्यकी बात ही क्या ? बल्कि यहाँतक कि जो साक्षात् चिन्मय तत्त्व है—ब्रह्म। उस चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास भी नहीं होता। इस रसकी जो स्फूर्ति है वह वहीं होती है जहाँ भगवान्की आह्लादिनी शक्ति गोपी बनकर, राधा बनकर, अपनी काय—व्यूहरूपा सारी गोपियोंके साथ जब क्रीडा करनेमें तत्पर होती है तब उन गोपियोंके मधुर हृदयमें ही इस भावमयी लीलाकी स्फूर्ति होती है, और कहीं होती नहीं।

इस रासलीलाका यथार्थ स्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद तो उन्हींको मिलता है जिन्हें गोपी—हृदय प्राप्त है। गोपी—हृदयके बिना रासलीलाका समझना, कहना, सुनना यह भयावह होता है। न मालूम इसका कोई क्या अर्थ लगा ले। क्यों ऐसा होता है ? इसलिये कि जैसे भगवान् सच्चिदानन्दमय हैं इसी प्रकार ये गोपियाँ भी परम रसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। यह इस प्रसंगमें आया है इसपर बहुत—बहुत महात्माओंने—जो इस

रसके जाननेवाले हैं, उन्होंने विचार किया है। तो यहाँ गोपी शरीर जो है वह जड़ शरीर नहीं है। सच्चिदानन्दमय है। जिस सूक्ष्म देहसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और जो सूक्ष्म देह कैवल्यकी प्राप्ति करता है वह सूक्ष्म देह भी यह नहीं है। जड़ताका यहाँ सर्वथा अभाव है।

इसलिये यहाँ उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दमयरूप श्रीकृष्ण हैं और उनके हृदयमें हैं श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमानृत। बहुत सुन्दर प्रसंग है। इसमें सबसे पहले आया है—'रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान्‌ने रमणकी इच्छा की। तो भगवान्‌की इच्छाको पूर्ण करना है यहाँपर गोपियोंको। गोपियोंकी इच्छा भगवान्‌ पूर्ण नहीं कर रहे हैं। भगवान्‌की इच्छाको पूर्ण करना है श्रीगोपांगनाओंको। यहाँ क्या चीज है ?

यहाँ गोपियोंकी दृष्टिमें हैं सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्ण और उनके हृदयमें हैं श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमानृत। इसलिये यहाँपर किसी प्रकारके कामका, कामनाका लेश नहीं है। क्योंकि इस स्थितिमें न स्थूल देह है, न उसकी स्मृति है, न उस स्थूल देहसे होनेवाले अंग-संगादिकी कल्पना है। यहाँपर जो कुछ है वह भगवान्‌का विशुद्ध अनुराग रसका प्राकट्य है।

जिन लोगोंने गोपियोंको पहचाना है, जिन लोगोंने गोपियोंकी चरण-धूलिका स्पर्श करनेका अवसर पाया है वे ही लोग इस रहस्यको जानते हैं। यहाँ तक आया है कि ब्रह्माजी, शंकरजी, उद्वक्की, नारद, अर्जुन ये सब-के-सब कोई महान्‌ देवता हैं, कोई सिद्ध पुरुष हैं, कोई भगवान्‌के बड़े उँचे भक्त हैं। इन लोगोंने इस रहस्यको जाननेकी इच्छा की। तब इन लोगोंने उपासनाकी, गोपियोंकी उपासना की। यह कथा पद्मपुराणमें आती है। गोपियोंकी उपासना करनेपर भगवान्‌के चरणोंमें उपस्थित होकर इस रसको देखनेकी जब इन लोगोंको आज्ञा मिली, वरदान मिला तब वे इस रसको जान सके। गोपियोंके दिव्य भावको साधारण स्त्री-पुरुषोंके भाव जैसा मानना, यह गोपियोंके और भगवान्‌के प्रति अपराध है। गोपियोंकी इस रास-लीलाको साधारण नर-नारियोंकी क्रीडाके समान मानना, इसको अपराध माना है और इसीलिये ऐसा कहा गया है कि रासपञ्चाध्यायीका श्रवण-मनन वह करे जो इस अप्राकृत दिव्य धाममें विश्वास रखता हो और इसी भावनासे इसको सुनना, कहना चाहता हो; नहीं तो सुननेवालेको और कहनेवालेको दोनोंको पाप होगा। ऐसा वर्णन आता है।

इसलिये रास जब हुआ तो परीक्षित तकको सन्देह हो गया।

परीक्षित तकने रासपञ्चाध्यायीके अन्तमें यह प्रश्न कर लिया कि भगवान्ने यह क्यों किया ? वह तो धर्मकी रक्षाके लिये उत्पन्न हुए थे। तब शुकदेवजीने यह प्रसंग वहींपर बन्द कर दिया; केवल उसका उत्तर देकर कि भगवान्की बात दूसरे आदमी नहीं सोच सकते। अग्नि सबको खा जाती है पर अग्निपर किसीका स्पर्श नहीं होता। भगवान् शंकरने हलाहल पी लिया, सब नहीं पी सकते। तीसरी बात एक और कही कि भगवान्के सम्बन्धमें पहले यह जानना है कि भगवान् कौन हैं ? गोपियोंके पतियोंकी आत्मा कौन है ? भगवान् हैं, इसलिये तुम इसपर सन्देह न करो। इस पञ्चाध्यायीको जो कोई भावसे सुनेगा, समझेगा उसके हृदरोगका नाश हो जायगा। फल बता दिया और कथा बन्द कर दिये।

इसलिये परीक्षित सरीखे लोगोंके मनमें भी यह प्राकृत राज्याकी बात आ जाती है तो यह पहले समझ लेना है कि भगवान्का जो शरीर है, वह कैसा है ? हमलोगोंके शरीरमें तीन चीज है। एक तो यह बना है कर्मसे स्वेच्छाकृत नहीं है, दूसरे इसमें धातु है, पाञ्चभौतिक है, तीसरे यह जन्म और मरणवाला है। यह पाञ्चभौतिक है, कर्मजनित है और बनने-बिगड़नेवाला है। भगवान्की देह ऐसी नहीं है। वह चिदानन्दघन है। पाञ्चभौतिक नहीं। वह नित्य है, अपनी इच्छासे बनी हुई। श्रीमद्भागवतमें आया है—स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि (१०/१४/२) और श्रीरामचरितमानसमें आया है—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी, बिगत विकार जान अधिकारी।

(अयो०/१२६/५)

इसलिये (१) यह सच्चिदानन्दमय हैं, पाञ्चभौतिक नहीं (२) यह जन्मने मरनेवाली नहीं, यह प्रकट और अन्तर्धान होती है और (३) यह कर्मजन्य नहीं है, यह स्वेच्छामय है। यह नित्य शुद्ध सनातन भगवत्स्वरूप है। इसी प्रकार गोपियोंकी देह भी दिव्य जगत्की, भगवान्की स्वरूपभूत जो अन्तरंग शक्तियाँ हैं, उनसे उनका शरीर है। इसी प्रकार इनका सम्बन्ध भी चिन्मय है। यह उच्चतम भावराज्याकी जो लीला है यह स्थूल शरीर और मनसे परेकी है।

इसकी प्रतीति होती है आवरण भंग होनेकी बाद। आवरण कहते हैं जैसे हमारे और किसी दूसरी चीजके बीच पर्दा पड़ा हुआ हो। इस पर्देका नाम है आवरण। जबतक पर्दा है तबतक चीज स्पष्ट दिखाई नहीं देती है। यह आवरण भंग होता है ब्रह्मकी प्राप्तिके पूर्व। आवरण हरणका नाम है चीर हरण। चीर हरण होनेके पश्चात् भगवान्की स्वीकृति होती है। तब उसमें प्रवेश होता है।

भगवान्का शरीर अस्थि, मज्जा, रक्त, मांसमय नहीं है। यह भगवान्का शरीर जो है वह सच्चिदानन्दमय है और इसमें विशेषता क्या है? सच्चिदानन्दमय देहमें आँख सूँघ सकती है, हाथ देख सकते हैं, कान खा सकते हैं, जीभ सुन सकती है। मतलब यह है कि भगवान् चाहे तो हाथोंसे देख लें, आँखोंसे चले, जीभके बदले त्वक्से स्वाद लें क्योंकि उनका सारा—का—सारा अंग अवयव दिव्य है। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण है। क्योंकि सर्वथा वह पूर्णतम है और इसीलिये एक विशेष बात है भगवान्के शरीरमें। हमलोगोंका जो शरीर है यह पहले छोटा बच्चा होता है, फिर बढ़ता है और बढ़कर फिर उसमें धीरे—धीरे विकास होता है फिर क्षय होता है लेकिन भगवान्का शरीर तो पन्द्रह वर्ष तक बढ़ता है तथा पन्द्रह वर्ष बाद फिर बढ़ता नहीं—ज्यों—का—त्यों रहता है। लेकिन उनके सौन्दर्यका उत्तरोत्तर विकास होता है। सौन्दर्यका विकास होता है इसीलिये उनका जो रूप माधुर्य है यह प्रतिक्षण बढ़नेवाला है क्योंकि वह सच्चिदानन्दमय है विकासशील है—विनाशशील नहीं। हमलोगोंके जवानीके बाद बुढ़ापा आता है। बुढ़ापेके बाद मृत्यु होती है। जवानीका रूप बुढ़ापेमें विकृत हो जाता है और मरनेपर भयानक हो जाता है। लेकिन भगवान्का जो स्वरूप सौन्दर्य है वह जवान नहीं होता है, किशोर अवस्थामें रहता है। पन्द्रह वर्षसे बड़ा नहीं होता है और इसके बाद उसका सौन्दर्य उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। तो भगवान्की रूप माधुरी नित्यवर्द्धनशील है और नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि औरोंकी बात छोड़ दें वह भगवान्के अपने मनको आकर्षित कर लेती है। स्वमनमोहिनी उनकी सौन्दर्य माधुरी है। इसलिये इस विशुद्ध स्वरूपमें किसी प्रकारकी बुरी कामना नहीं करनी चाहिये, बुरे भाव नहीं करने चाहिये।

जब यह गोपी साधना पूरी हो गयी। आवरण भंग हो गया। तब भगवान्ने अगली रात्रियोंमें उनको आश्वासन दे दिया। अब वह अगली रात्रियाँ कौन—सी हैं, यह बात भगवान्की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा—'वीक्ष्य'। भगवान्ने देखा इसका अर्थ क्या है? यह जरा कठिन विषय है। उपनिषद्में आता है 'स इच्छत' (ऐतरेयोपनिषद् १। ३। ११) एकोऽहं बहुस्याम्। भगवान् जब सृजन करते हैं संसारका तो क्या करते हैं कि उनमें एक संकल्प होता है कि हमें खेलना है। खेलना अकेलेमें होता नहीं तब दूसरा संकल्प है 'एकाकी न रमते' अर्थात् अकेलेमें रमण नहीं होता। तो क्या करें? 'स इच्छत, एकोऽहम् बहुस्याम्'—भगवान्ने सृष्टिके प्रारम्भमें

संकल्प किया, देखा कि मैं एक बहुत हो जाऊँ। मैं एक ही बहुत हो जाऊँ। ऐसी जहाँ इच्छा हुई तो जगत्की उत्पत्ति हो गयी। भगवान्के देखते ही जगत्की उत्पत्ति हो गयी। वैसे ही बड़ी विचित्र बात है कि बसन्तमें खिलनेवाले तमाम पुष्प शरदमें खिल गए। शरदकी रात्रि बसन्तकी रात्रियोंसे अधिक भावमयी हो गयी। भगवान्ने देखा अर्थात् रासके प्रारम्भमें भगवान्के प्रेम वीक्षणसे, प्रेमेक्षणसे शरदकालकी दिव्य रात्रियाँ बन गयीं। इसीलिये वहाँपर एक बड़ी सुन्दर चीज है समझनेकी। 'ता रात्रीः' कहा है भगवान्ने। हम शरद पूर्णिमाकी रात्रिको मनाते हैं रास-पूर्णिमा। यह एक रात्रि नहीं थी। भगवान्ने देखा तो अनेक रात्रियोंकी एक रात्रि हो गयी। अनेक दिव्य शरदकालीन रात्रियोंकी सृष्टि हो गयी देखते ही। मल्लिका पुष्प, चन्द्रिका इत्यादि जितनी भी उद्दीपन सामग्री वह सारी भगवान्के द्वारा वेक्षित अर्थात् लौकिक नहीं अप्राकृत—यह भाव दिखाया वेक्षितसे कि भगवान्ने देखा और उनके देखते ही वह अप्राकृत रात्रियाँ अप्राकृत पुष्प, अप्राकृत चन्द्रकी चाँदनी यह सब प्रकट हो गयी। अब क्या करें ? इनके पास मन था नहीं। तो 'मनश्चक्रे'—भगवान्ने मनका निर्माण किया। मन चाहिये और इनके पास अपना मन था नहीं तो गोपियोंने अपना—अपना मन इन्हें दे दिया। भगवान् बिना मनके हैं। इनका मन जो है वह भी इनका स्वरूप है। मनमें संकल्प—विकल्प होते हैं और ये संकल्प—विकल्प रहित हैं। भगवान्को माना है—संकल्प शून्य। संकल्पशून्य मनवाला नहीं होता है। इनके पास अपना मन नहीं है इसलिये इन्होंने मनका निर्माण किया। अर्थात् यह श्रीकृष्णके विहारके लिये नवीन मनकी दिव्य सृष्टि हुई। वह मन कहाँसे आया ? गोपियोंका जो मन था वह श्रीकृष्णका मन बन गया।

यह सृष्टि की किसने ? योगमायाने। योगमायाके दो काम होते हैं। मायाके कई रूप हैं। एक, योगमायाके द्वारा भगवान् काम कराते हैं और एक योगमाया भगवान्से काम कराती है। भगवान्का जो प्राकट्य होता है वह और चीज है। यहाँपर भगवान्के इस रासमें योगमायाकी जो क्रिया है वह दूसरी है। योगमाया वहाँ सारा स्टेज बनाती है। मन बनाना, स्टेज बनाना, सारा योगमायाका काम। योगमायाको प्रकट करके यहाँ भगवान्ने यह सब काम किया। भगवान्की जो वंशी है वह कैसी है ? इसमें जडको चेतन और चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल बनानेकी शक्ति है। विक्षिप्तको समाधिस्थ कर देती है। पागल आदमी जो नाच रहा हो वह वंशीध्वनिको

सुनकर समाधिस्थ हो जायेगा और योगी जो समाधिस्थ बैठे हैं वे मुरली सुनते ही विक्षिप्त हो जायेंगे। भगवान्‌का यह प्रेमदान हुआ गोपियोंको। प्रेमदानको पाते ही गोपियाँ निश्चिन्त हो गयी थीं। जबतक प्रेम नहीं मिलता भगवान्‌का और भगवान्‌में राग नहीं होता तबतक मनुष्य निश्चिन्त नहीं हो सकता। चिन्ता तबतक मिट नहीं सकती।

गोपियोंको मिला भगवान्‌का प्रेमदान इससे गोपियाँ निश्चिन्त हो गयीं। वे घरके काममें लगी थीं, निश्चिन्त होकर, घरके कामकी चिन्ता नहीं। घरका काम गोपियों द्वारा हो रहा है और गोपियाँ निश्चिन्त हैं। यह उसमें लगी हुई थीं। कोई अर्थमें लगी थीं, कोई काममें लगी थीं और कोई मोक्ष साधनमें लगी थीं। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें पर उनमेंसे किसी पदार्थकी उनको चाह नहीं। किसी पदार्थमें उनकी आसक्ति नहीं। यह उनकी विशेषता थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया। वह रोटी बेल रही हैं और बेलकर तवेपर डालकर सेंककर चलें, कपड़ा पहन रही हैं तो पूरा पहनकर फिर चलें, बच्चेको दूध पिला रही हैं तो पूरा पिला दें तब चलें, ऐसा नहीं हुआ। कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया। काम पूरा करके चलनेकी बात उनके मनमें नहीं आयी। क्यों ? क्योंकि वे काम तो कर रहीं थीं परन्तु उस काममें उनकी आसक्ति नहीं थी। कामकी उनको चिन्ता नहीं। कामकी पूर्णता उनका उद्देश्य नहीं। वे पदार्थ नहीं चाहती थीं यह उनकी विशेषता। तो वह चल पड़ी। यह बड़ी सुन्दर समझनेकी चीज है कि एक चलना होता है किसी कामसे और एक चलना होता है विषयासक्तिशून्य सन्यासीका। बाबा (श्रीराधाबाबा) कहा करते थे कि हमारा जो यह काष्ठ मौन है यह अधूरा है। अपूर्ण है। काष्ठ मौनका वास्तविक स्वरूप होता है कि चल दे। कहाँ चल दें इसका पता नहीं। बस चल दे। गंगाके किनारे-किनारे चल पड़े। न कोई आसक्ति है न चलनेका कोई अर्थ है। रास्तेमें कहीं कपड़ा गिर पड़ा तो गिर पड़ा और शरीर जहाँ गिर पड़ा नींदके लिये तो नींद आ गयी, गिर पड़ा उठा फिर चल दिये। रास्तेमें कोई रोटी सामने दे दी तो खा लिया।

इसलिये विषयासक्तिशून्य जैसे सन्यासी चलता है। उसके हृदयमें वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वाला है, उसमें उसका सब भस्म हो गया। इस प्रकार यह गोपियाँ चलीं। इसका वर्णन आगे आयेगा। किसीने काम नहीं पूरा किया। घरवालोंसे राय नहीं ली और जो गोपियाँ गयीं वे भी जानेकी बात आपसमें

एक दूसरेसे नहीं कही। हम जा रहे हैं साथ चलो, चलना है, नहीं। न पूछताछ की, न बातचीत, न घरमें पूछा, न कार्य पूरा किया, जो जैसे थी वह उसी रूपमें चल दी। खा रही है और मुँह नहीं धोया तो नहीं धोया। कपड़ा पहन रही है तो, कमरका कपड़ा सिरपर ओढ़ लिया तो ओढ़ लिया। गहना पहन रही है चल्टा, हाथका पैरमें पहन लिया तो पहन लिया। इस प्रकार अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी वह चल पड़ी।

गोपियाँ ब्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य है या मूर्तिमान् प्रेम—यह कहा नहीं जा सकता। जगत्की दो चीजें—जगत्की आसक्ति और जगत्का काम—यह दोनों उनमें नहीं रहा। तो अब इनकी साधना क्या है ? साधनाके दो भेद हैं। एक होती है वैध साधना और एक होती है मर्यादारहित अवैधी साधना। इन दोनोंके अलग-अलग नियम होते हैं। वैध साधनामें नियमोंके बन्धनका, पद्धतिका, कर्तव्योंका, धर्मोंका विशेष ख्याल रहता है। इनका त्याग साधनाको नष्ट करनेवाला होता है। मान हानिकर होता है इसलिये वैध साधनाके जो अधिकारी हैं उनका यह काम है कि किसी प्रकारसे भी अवैध प्रेम साधनामें न पड़े। वह वैध साधनाका कलंक है, गिरानेवाला है। इसलिये वैध साधनाको आदमी छोड़ता नहीं है। लेकिन जब अवैध साधना आती है तो छूट जाता है। यह जैसे नदीके पार पहुँचा हुआ आदमी नावको छोड़ दे और नदीके पार न पहुँचकर कोई बीचमें ही नावको छोड़ दे तो वह डूब जायगा। अवैध साधनाका अर्थ है कि भगवान्का प्रेम जिससे प्राप्त हो गया, जिसकी सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्की ओर ही दौड़ने लगी उसके लिये फिर वैधता रहती नहीं। दूसरी चीजको वृत्ति पकड़ती नहीं, धारण करती नहीं, रखती नहीं इसलिये नियमपूर्वक कौन करे ? नियमपूर्वक करनेवाला जो संस्कारी रहा वह उस रूपमें रहा नहीं तो वेदान् उन्मूलयति— वेदोंका उन्मूलन हो जाता है उस अवैध साधनामें। आगे आयेगा कि मर्यादाके सेतुका भंग हो जाता है। पुलसे पार हो गए और पुल टूट गया। मर्यादा-सेतु भंग हो गया।

यह गोपी जो हैं इस साधनाके उच्च स्तरपर परम आदर्शरूपमें थीं। इसीलिये वे घर-द्वार, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म, भोग-मोक्ष सबको छोड़कर सबका उल्लंघन कर जो परमधर्म स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं उनको प्राप्त करनेके लिये अभिसार किया। उनका पति-पुत्रोंका त्याग धर्मका त्याग नहीं है। यह अवैध साधनाके धर्मका पालन है। यहाँपर 'स्वधर्म'

है। संन्यासी जैसे सब घरवालोंको छोड़ देता है वैराग्यसे तो उसके छोड़नेका अर्थ यह नहीं है कि वह कर्तव्यका त्याग करता है। संन्यासीका कर्तव्य ही है सबको छोड़ देना। इसी प्रकार यह स्वधर्मत्याग जो है—गोपियोंका है—‘सर्वत्याग करें’ ‘करें कृष्ण भजन’। यह गोपियोंके लिये कहा है चैतन्य महाप्रभुने कि सर्वत्याग अर्थात् सर्वधर्मत्याग और सर्वधर्मत्यागकी आज्ञा भगवान्ने दी है—शरणागतिमें। ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ यह भगवान्के शब्द हैं औरोंके नहीं। वहाँपर वैध धर्मकी आवश्यकता बतानेके लिये कहना पड़ता है कि धर्मोंके त्यागकी बातका अर्थ है कि धर्मोंका आश्रय त्याग करो। धर्म त्यागकी बात नहीं। परन्तु नाम धर्मत्यागका है। गोपियोंका जो यह त्याग है, यह सर्वधर्मत्याग सबके लिये नहीं है। यह त्याग वही कर सकते हैं जो भगवत्प्रेमको प्राप्त हैं। वे भी जानबूझकर त्याग नहीं करते जैसे सूर्यका मध्याह्नका प्रकाश होनेपर तैल दीपका त्याग अपने आप हो जाता है। उस समय तैलके दियेको कौन लिये घूमता है ? जितने और धर्म हैं यह तैलके दियेके समान हैं और भगवत्प्रेम सूर्यके प्रखर प्रकाशके समान है। भगवत्प्रेमकी जब उच्च स्थिति होती है तब यह होता है। यह वहाँ कहा है ? ‘वेदान्पि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते’ (नारद भक्तिसूत्र/४६)। नारदजीने कहा कि वेदमूलक जितनी धर्मकी मर्यादायें हैं उन मर्यादाओंका वह संन्यस्यति—भली भाँति त्याग कर चुकता है। वेदकी कोई मर्यादा उसपर बन्धनरूप नहीं रहती है क्योंकि वह अखण्ड, केवलम् अविच्छिन्नम् अनुरागम् लभते—केवल अखण्ड, विशुद्ध अनुरागको प्राप्त करता है। विशुद्धानुरागमें रहता क्या है ? इसमें रहता है केवल प्रेम और केवल प्रेमास्पद। प्रेमी भी नहीं रहता। प्रेमीका हृदय भी भरा रहता है केवल प्रेमसे और प्रेमका भाव होता है प्रेमास्पदका सुख सम्पादन। बस ! जिसके शरीरसे अपनी वासना, कामना, अहंताके बिना प्रेमास्पदका सुख बनता रहता हो उसका नाम है गोपी। अपने-आपको जो छोड़ चुकी, अपने-आपको जो भूल चुका, अपने अहंका जो विनाश कर चुका, उसका अहं केवल बना इसलिये कि उसका जो प्रेमास्पद है उसके सुखका सम्पादन होता रहे। वह अहं प्रेमास्पदका सुख-सम्पादन रूप है, अहं नहीं। इस प्रकारके हृदयवाली जो भी कोई है या जो भी उस प्रकारके हृदयवाला है उसका नाम-गोपी। किसी स्त्रीका नाम गोपी नहीं है।

इस प्रकारकी जो गोपियाँ थीं वे गोपियाँ भगवान्के सुख-सम्पादनरूप हृदयवाली थीं। जो भगवान्के वंशी ध्वनिको सुनकर जाती हैं। वंशी ध्वनि

सुनकर क्यों गयी ? इसलिये कि उनका हृदय है भगवान्‌का सुख सम्पादन स्वरूप और उनके हृदयमें वंशी ध्वनि पहुँची कानके द्वारा कि ललिता आओ । गोपियोंको सुनाई दिया अपना—अपना नाम मानो नाम ले—लेकर वंशी ध्वनिके द्वारा भगवान्‌ने उन सबको बुलाया । जब ऐसा होता है तब उस समय किसी दूसरेकी ओर ताकना कैसा होता है ? भगवान्‌का परम आवाहन हो गया । वहाँ भी रोकनेवालोंने रोका । बड़ी सुन्दर बात वहाँ आती है कि रोका । लेकिन रुके कौन ? जब हिमालयसे नदी निकलती है तो उस धाराको कोई रोक सकता है क्या ? जो रोकना चाहता है वह भिट जाता है । गोपियोंको रोकना चाहा, परन्तु रुकी नहीं, रोक सकी नहीं और जिसके चित्तमें कुछ प्राकृतिक पुरातन संस्कार थे उनकी विचित्र दशा हुई । इसमें वर्णन आयेगा कि एक गोपीको नहीं जाने दिया—घरवालोंने रोक दिया, घरके बाहर निकलने नहीं दिया । (यहाँ गोपीके स्वरूपकी कुछ छाया देखनेको मिलती है) प्रेमीका तो क्या हुआ ? दो चीज साथ हुई उसमें—इतना अपार दुःख हुआ उसे कि जिसकी सीमा नहीं और उसीके साथ—साथ भगवान्‌ श्यामसुन्दरका ध्यान हो गया । वो देखने लगे संसारमें जो हमारा रहना है शरीरको लेकर, यह है पाप—पुण्यके कारणसे । जिसको ज्ञान होता है, जो पुरुष मुक्त होता है उसमें पाप—पुण्य दोनोंका नाश हो जाता है, ज्ञानके द्वारा कर्मनाश । तो उस गोपीके कुछ पुरातन संस्कार थे इसीलिये वह रुकी नहीं । रोक भी नहीं सकते थे घरवाले । परन्तु कुछ संस्कार थे, कुछ जड़ता थी उसमें ।

एक उदाहरण दिया कि एक गोपी थी । उसको रोका गया । उसे भगवान्‌के वियोगमें इतना दुःख हुआ कि जो दुष्कर्म उसके शरीरको बनाये रखनेवाले थे वे नष्ट हो गये । माने पापका भोग एक क्षणमें हो गया । अब रह गये पुण्य । हम सबमें पाप—पुण्य दोनों हैं । केवल पाप या केवल पुण्य नहीं है । उस गोपीको इतना सुख मिला भगवान्‌के उस ध्यानमें कि जिससे उसके पुण्यका फल प्राप्त हो गया । उसका शरीर नष्ट हो गया और शरीर नष्ट होते ही दिव्य देहकी प्राप्ति हो गयी और दिव्य शरीरसे, गोपी शरीरसे वह तुरन्त भगवान्‌के समीप पहुँच गयी औरोंसे पहले ।

यह गोपी भाव । उनका शरीर तो घरमें रह गया परन्तु उनके वियोगसे उनके सारे पाप क्लृप्त धुल गए और ध्यानमें प्राप्त भगवान्‌के प्रेमलिंगनसे उनके समस्त पुण्योंका परमफल उन्हें प्राप्त हो गया और वे भगवान्‌के पास सशरीर पहुँचनेवाली गोपियोंसे पहले जा पहुँची । भगवान्‌में

मिल गयी। यह गोपियोंका स्वभाव है। भगवान् बड़े लीलामय एवं लीला नटवर हैं और ये लीला नटवर भी गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले। भगवान् गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले। ऐसा क्यों ? यह बहुत सुन्दर बात है। इच्छा यहाँ भगवान्की है, गोपियाँ तो केवल भगवान्का सुख—सम्पादन करनेवाली हैं। लेकिन भगवान्की इच्छाने गोपियोंमें इच्छा पैदा की। तो उनकी इच्छासे उन्हींके प्रेमाभानसे भगवान्ने यह सब लीला की। वंशी बजायी, गोपियोंने उसे सुना, गोपियोंने अभिसार किया और भगवान्के पास जब ये आयीं, इच्छा इन्हींकी लेकिन भगवान्ने ऐसा स्वांग बनाया वहाँपर कि मानों भगवान्को पता ही नहीं कि गोपियाँ आयी हुई हैं। क्यों आयीं तुम लोग ? भगवान्ने पूछा—स्वागतं वो महाभागा प्रियं किं करवाणि वः। (श्रीमद्भा० १०। २६। ५८) तुमलोगोंका स्वागत है। तुम भला इतनी रातमें क्यों आयी ? इसका मतलब क्या था ? वे शायद गोपियोंके मुँहसे अपने हृदयकी बात सुनना चाहते हैं। माने गोपी—हृदयका उदघाटन, गोपी—हृदयके रहस्यका खोलना भगवान्ने यहाँ कराया गोपीके मुँहसे। गोपी क्या वस्तु है ? यह संवाद आगे आयेगा। पहले श्लोकमें भगवान्ने जो कहा और गोपियोंने जो उत्तर दिया उससे सिद्ध हो जायेगा कि गोपी—हृदय क्या होता है ?

भगवान् विप्रलम्भके द्वारा मानों मिलनके भावको परिपुष्ट करना चाहते हैं। इसलिये पूछनेमें क्या—क्या पूछ गये ? भाई घरमें सब राजी—खुशी है न ! कोई ब्रजमें विपत्ति तो नहीं आ गयी ? कैसे इस समय भागकर यहाँ आयी। घरवाले दूँढ़ते होंगे यहाँ ठहरना ठीक नहीं और वनकी शोभा अगर देखने आयी तो वनकी शोभा भी अब देख ली, अब लौट जाओ। देखो ! तुम्हारे गायोंके बछड़े सब खुले रह गये हैं और देखो बच्च्ये रोते होंगे। एक बात और है कि घरवालोंकी सेवा करना मोक्षके अनुकूल कार्य है; तो इस सेवाको छोड़कर इस रातको यों भटकना स्त्रियोंके लिये यह ठीक नहीं। स्त्रियोंको तो अपने पतिकी सेवा करनी चाहिये। कोई कैसा भी क्यों न हो। यह साधन—धर्म है, ऐसा कहा। तो तुमको वहाँ जाना चाहिये और मैं यह भी जानता हूँ कि तुम भुझसे प्रेम करती हो, तो प्रेमके लिये यह आवश्यक नहीं है कि पास आया जाय। श्रवण, मनन, दर्शन, ध्यान इनसे प्रेम तो खूब बढ़ता है चाहे पास न हो। इसलिये तुम जाओ और अपने सनातन सदाचारका पालन करो। इधर—उधर भटको मत। इस प्रकारसे भगवान्ने समझाया। यह शिक्षा बड़े कामकी है परन्तु यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं है। इनमें न जड शरीर

था और न ही प्राकृतिक अंग संग था; न इसके सम्बन्धमें कोई प्राकृतिक बात थी, न स्थूल कल्पनाएँ थी। यह था चिदानन्द भगवान्‌का दिव्य विहार जो दिव्य लीलाधाममें सर्वथा होते हुए भी यहाँ कभी-कभी प्रकट होता है।

(२)

भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्यं रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

शुकदेवजी कहते हैं कि ऐश्वर्य, वीर्य आदि षडविध महाशक्ति निकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मल्लिकादि विविध शारदीय कुसुमविकाससे परिशोभित रात्रिको देखकर अपनी अचिन्त्य महाशक्तिको प्रकट करते हैं और गोपभणियोंके साथ रमण करनेकी इच्छा करते हैं—यह श्लोकका अर्थ है। इसमें श्रीमद्भागवतकी रासपञ्चाध्यायी पर विचार करते समय यह मिलता है कि वे साक्षात् मन्मथमन्मथ हैं और आत्माराम हैं। अतएव जो मन्मथके भी मन्मथ हैं उनका कामासक्त होना संभव नहीं और जो आत्माराम हैं उनको रमणके लिये गोपियोंके साथ मिलनेका कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु तो भी शत-शत कोटि गोप रमणियोंके साथ रासक्रीडा उन्होंने की है। इससे ऐसा मालूम होता है कि यह काम विजयकी घोषणा है, श्रीधर स्वामीने काम विजयकी घोषणाका ही अर्थ लिया है। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि कामका यहाँ लेश ही नहीं है। भगवान्‌के इस राज्यमें कामका प्रवेश ही नहीं है। यह तो मन्मथमन्मथ है। रासलीलामें भगवान्‌के प्रवृत्तिके आवरणमें भगवान्‌ने परानिवृत्तिकी क्रीडाकी है और उसका अधिकांश तत्त्व 'भगवानपि ता रात्रीः' इत्यादि श्लोकके पहले चरणमें छिपा हुआ है। अब इसपर कुछ विचार करना चाहिये।

भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। 'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' यही श्लोकका मूल प्रतिपाद्य है। इसको समझनेके लिये पहले दो पदोंको समझना है—भगवान् और रमण। विष्णु पुराणमें भगवत् शब्दका अर्थ कहते हुए यह बताया गया है कि—

यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम् ।

अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम् ॥

विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिरकारणम् ।

व्याप्यव्याप्तं यतः सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥

तद्ब्रह्म तत् परं धाम तद्ध्येयं मेक्षाकाक्षिभिः ।

श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः ।

वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्य स्याक्षयात्मनः ॥

(विष्णु पुराण । ६ । ५ । ६६-६६)

वेदके वचनोंमें अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अक्षय, अनिर्देश्य, प्राकृतरूपविहीन प्राकृत-कर-चरणादिविवर्जित, सर्वशक्तिमान्, सर्वगत, नित्य, सर्वकारण, अकारण, सर्वव्यापी, परम, महत् और सर्व प्रकाशक वस्तुका जिससे उद्देश्य पाया जाता है और तत्त्वज्ञ व्यक्ति जिसको प्रत्यक्ष करते हैं वही वस्तु ब्रह्म है। अर्थात् परतत्त्व सर्वापेक्ष्य बृहत् और स्वप्रकाश है। मोक्षकी आकांक्षा करनेवाले व्यक्ति इसी वस्तुका सर्वदा ध्यान किया करते हैं। परमात्माका जो इस प्रकारका स्वरूप है, वही भगवत् शब्द वाच्य है और उसीको आद्य अक्षर स्वरूप भगवत् शब्दके द्वारा कहा जाता है। इस प्रकार भगवत् शब्द वाच्य परमात्माके सभी वस्तुके स्वरूपका निर्देश करनेके बाद भगवत् शब्दका अर्थ करते हैं विष्णु पुराणमें। कुछ थोड़ा पाठ भेद है। किसी-किसीमें 'वीर्यस्य' की जगह 'धर्मस्य' पाठ मिलता है।

ज्ञानशक्ति बलैश्वर्य वीर्यतेजांस्यशेषतः ।

भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥

(विष्णु पुराण ६ । ५ । ७६)

परिपूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये छः प्रकारकी महाशक्तियोंका नाम 'भग' है। भगवान् प्राकृत गुण सम्बन्ध विहीन हैं। परिपूर्ण ज्ञानशक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज ये भगवत् शब्द वाच्य हैं। इससे यह समझमें आता है कि ऐश्वर्यादि षडविध महाशक्ति समन्वित जो सच्चिदानन्दधन विग्रह है वह भगवान् हैं। उन भगवान्में जो सर्ववशीकारत्त्व शक्ति है उसका नाम है ऐश्वर्य। सबको वशमें कर लेनेकी जो शक्ति है उसका नाम ऐश्वर्य है। भगवान्की इस ऐश्वर्य शक्तिके अधीन प्राकृत और अप्राकृत सभी वस्तुएँ अधीन हैं। वे किसी भी वस्तुके द्वारा किसी भी कामको कर सकते हैं। जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उनकी अधीनता छोड़कर स्वतंत्रभावसे कुछ भी करनेमें समर्थ हो। यह उनका ऐश्वर्य है। छुद्रतम धूलिकणसे लेकर सुमेरु पर्यन्त और जलबिन्दुसे लेकर समुद्र पर्यन्त, श्वास वायुसे लेकर प्रलयके तूफान पर्यन्त और छोटेसे क्षुद्र जीवाणुसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त, अचेतन अथवा चेतन सारी वस्तुएँ ही उनकी ऐश्वर्य शक्ति द्वारा नियन्त्रित हैं।

अब श्रीभगवान्की जो दूसरी अचिन्त्य शक्ति है उसका नाम 'वीर्य' है। जगत्में भी हम देखते हैं कि मणि, मन्त्र, महौषधि इत्यादिके द्वारा विविध आश्चर्यमय कार्य होते हैं। चन्द्रकान्त मणि अगर पास है तो अग्निकी दाहिका शक्ति हट जाती है। इस प्रकार मणियोंसे, मन्त्रोंसे, महौषधियोंसे काम होते हैं। जब मणि, मन्त्रोंमें इतनी शक्ति है तो जो समस्त वस्तुओंके सृष्टिकर्ता हैं; इन सारी वस्तुओंके जो निर्माता हैं उन भगवान्के अचिन्त्य शक्तिके सम्बन्धमें हम अनुमान कर सकते हैं। भगवान्की लीला कथापर विचार करते समय यह मानना चाहिये कि भगवान् अचिन्त्य शक्ति हैं। उनकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है। श्रीकृष्णकी लीलामें पूतनावध, शकटभंजन, गोवर्धन-धारण इत्यादि उनकी अचिन्त्य महाशक्तिका ही परिचय देते हैं। जो भगवान्के अचिन्त्यशक्तिमें अविश्वास करते हैं वे ही लोग भगवान्की लीलाको कोई रूपक बताते हैं, कोई प्रक्षिप्त बताते हैं परन्तु भगवान्की कृपासे और महासौभाग्यवश जिनको भगवान्की अचिन्त्यशक्तिमें विश्वास है वे ही लोग लीला कथापर विचार करके परम आनन्द सिन्धुमें निमग्न हो सकते हैं। अविश्वासी लोग नहीं।

तो कहते हैं कि अनन्त कल्याणगुण-समुद्र भगवान्के कायिक, वाचिक, मानसिक जितने भी लीला कार्य हैं वे सब-के-सब जगत्के लिये परम कल्याणकारी हैं। उनकी कोई लीला प्रारम्भमें देखनेपर अहितकर दीखनेपर भी परिणाममें कल्याणकारी ही होती है। श्रीभगवान्का पूतना, अघासुर इत्यादिका वध प्रत्यक्ष दीखता है कि ये दण्ड विधान हैं परन्तु हुआ क्या ? सदाके लिये उनको संसारसे मुक्ति प्राप्त हो गयी। परमकल्याण हो गया। दीखा उनका वध, उन्हें भी मालूम हुआ कि हमें भगवान्ने मारा परन्तु उनका अशेष कल्याण हो गया, सदाके लिये मुक्त हो गए। तो भगवान्की कोई भी कायिक, मानसिक लीला देखनेमें चाहे कौसी भी मालूम हो वह है कल्याणकारी। यह है भगवान्का यश।

पहले ऐश्वर्य आया फिर 'वीर्य' आया अब 'वश' और भगवान्का धाम भगवान्के पार्षद, भगवान्की लीला, भगवान्का श्रीविग्रह यह सभी महान् सम्पत्तिसे परिपूर्ण हैं। यह जो महान् सम्पद है इसीका नाम 'श्री' है। भगवान्की सर्वज्ञता और स्वप्रकाशता इसका नाम 'ज्ञान' है। और सब प्रकारकी मायिक वस्तुओंमें भगवान्की नित्य सहज अनासक्ति यही 'वैराग्य' है। यह जो छः महाशक्तियाँ हैं इन्हींका नाम 'भग' है। सच्चिदानन्दघन विग्रह भगवान्में यह महाशक्तियाँ नित्य स्वरूपगत अवस्थान करती हैं इसीलिये

इनका नाम 'भगवान्' है। यह ऐश्वर्यादि छः प्रकारकी महाशक्तियोंके घर या निकेतन हैं। सच्चिदानन्दमय भगवान् एक होनेपर भी इनकी अनन्त लीला होती है। इसीलिये श्रुतियाँ कहती हैं 'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति'—एक ही भगवान् बहुत रूप होकर लीला करते हैं।

इसीलिये लीलाका भेद है और इस लीलाभेदसे इनका तीन नामोंसे निर्देश किया है भागवतमें—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

तो सजातीय, विजातीय और 'स्वर्गद' इन तीन प्रकारके भेदोंसे रहित अद्वैत सच्चिदानन्द वस्तुको ही तत्त्वविद लोग परतत्त्व मानते हैं। इस परतत्त्वके तीन नाम हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ये तीन इनके लीला प्रकाश हैं, एक ही वस्तुके। श्रीमद्भागवतमें वर्णित रासलीलाके भगवान्का कृष्ण, गोविन्द इत्यादि नाम जो हैं; यह इन रासविहारीके परतत्त्वका ही परिचय देते हैं। इससे जो भगवान्की भगवत्ता है वह जाहिर होती है। क्यों ? भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की। ब्रह्मने रमण करनेकी इच्छा की, परमात्माने रमण करनेकी इच्छा की यह नहीं आया। यह भगवान्के जो तीन नाम हैं—परात्पर ब्रह्मके—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। परन्तु यहाँ भागवतकार 'भगवानपि' कहते हैं। तो यहाँ भगवान्का वर्णन है, ब्रह्म और परमात्माका नहीं। एक ही तत्त्व है। परन्तु यह वर्णन भगवान्का है। श्रीकृष्ण, गोविन्द इत्यादि नाम जो रासपञ्चाध्यायीमें आते हैं, यह भगवान्के लिये ही आते हैं। प्रसंगतः यह प्रश्न भी है महाराज परीक्षितका—

'कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने। (श्रीमद्भा० १०। २६। १२)

गोपियोंने श्रीकृष्णको कान्त समझकर ही जाना। ब्रह्म रूपमें अनुभव

नहीं किया और विशुद्ध अनुरागमें यह आवश्यक है कि वहाँ ऐश्वर्यका विकास, प्रकाश नहीं रह सकता। तो भगवान्की रासलीलाके वर्णनके अंतमें शुकदेवजी कहते हैं कि गोपी, गोपियोंके पति और समस्त जीवोंके अन्तरमें जो अन्तर्यामी रूपमें अवस्थित हैं—वे ही लीला विग्रहमें अवतीर्ण होकर गोपियोंको दिखाई दिये; और उन्हींसे गोपियोंका विविध विहार हुआ। इससे जाना जाता है कि 'ब्रह्म' किंवा परमात्माके साथ रासक्रीडाका स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। स्वरूपतः भेद न होनेपर भी गोपियोंको ब्रह्म या परमात्माका

अनुभव नहीं हुआ। इस लीलाके साथ ब्रह्म और परमात्माका कोई सम्बन्ध नहीं है; एक होनेपर भी। ऐश्वर्य, वीर्यादि षडविध महाशक्ति निकेतन जो सच्चिदानन्दघन विग्रह श्रीभगवान् हैं; वे उस लीलाके नायक हैं। लीलामें नायक होना चाहिये। तो भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की। 'भगवान् रन्तु मनश्चक्रे' इस श्लोकांशके द्वारा कोई यह अर्थ करे कि ब्रह्म किवां परमात्माका जीव चैतन्यके साथ मिलन है और उसका यह रासलीलाका वर्णन है तो कहते हैं कि यह तात्पर्य ठीक नहीं समझा गया। यह भगवान्का वर्णन है।

अब स्वरूपतः भगवान्की बात है। श्रीभगवान् स्वरूपतः एक होनेपर भी—ब्रह्म परमात्माकी बात तो आ गयी अब भगवान्के अलग—अलग भेद हैं। श्रीभगवान् स्वरूपतः एक होनेपर भी 'एकमेवाद्वितीयम्' सिद्धान्त है। उनकी लीलाकी अनन्ततासे उनके श्रीविग्रहोंकी लीलारूप अनन्तता सब शास्त्र सिद्ध है। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, राम, नारायण आदि जो अनन्त मूर्तियाँ हैं—यह भगवान्की ही मूर्तियाँ हैं और ये अनन्तलीला करते हैं।

रासलीला उन अनन्त लीलाओंमें अन्यतम लीला है। इसमें नव किशोर नटवर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी मूर्ति ही इन अनन्त मूर्तियोंमें अन्यतम है। ब्रह्म और परमात्माके साथ जैसे भगवान्का स्वरूप भेद जरा भी न होनेपर भी अविर्भाव भेद है, लीला भेद है। इसी प्रकार मत्स्य—कूर्मादिके साथ भी श्रीकृष्णका स्वरूप भेद जरा भी न होनेपर भी लीलामेदसे आकृति भेद है।

अनन्त प्रकाश कृष्णोर नहीं मूर्तिभेद।

आकार, वस्त्र, वर्ण, भेद नाम विभेद।।

श्रीमद्भागवतके कृष्ण लीला वर्णनके प्रकरणमें ही रासलीलाका वर्णन है। 'योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः' (श्रीमद्भा० १०। ३३। ३) इस प्रकारसे रासलीलाके सौष्ठवका प्रदर्शन किया गया तो यह भी धारणा रखनी चाहिये यहाँपर कि उसी भगवान्ने मत्स्य—कूर्मादि अनन्त रूपोंमें अनन्त लीला करनेपर भी रासलीला किया, कृष्णरूपमें ही और रूपोंमें नहीं। तो यदि रासलीलाका कोई चौसठ योगिनियोंकी लीला कहे, कालिका नृत्य कहे और भूत—प्रेत, पिशाच, प्रमथादिके साथ महादेवका नाच कहे, हनुमान और जाम्बवान् इत्यादिका रावण वधके बाद जयौल्लासका नृत्य कहे तो वह भले कहे परन्तु यह युक्तिसंगत बात नहीं। न तो यह ब्रह्मके साथ जीवका मिलन है, न यह ब्रह्म और परमात्माका विषय है। यह भगवान्का विषय है और भगवान्में भी श्रीकृष्ण रूपका विषय है। यहाँतक यह सिद्ध किया। कहते हैं कि यह मत्स्य,

कूर्म, वाराह, नृसिंह, राम, नारायण, कृष्ण इनमें भेद नहीं है यह फिर ध्यानमें रखें। इनमें भगवान्‌का प्रकाश भेद मात्र है।

‘मनिर्यषा विभागयः नीलपीतादि चिरयुतः रूपभेदम् वाप्नोति ध्यानभेदोत्थाच्युत’ (नारद पाञ्चरात्र)

जैसे एक ही वैदूर्यमणि नील पीतादि वर्ण विशेष रूपमें अलग-अलग समयपर अलग-अलग व्यक्तियोंको अलग-अलग रूपमें दीखती है, उसी प्रकार एक ही भगवान् विभिन्न साधकोंको विभिन्न भावनासे विभिन्न लीला-समन्वित विभिन्न मूर्तियोंमें प्रकाशित दीख पड़ते हैं। इसमें रूप भेद न करें। लीला भेद है। यह जो लीला भेद है यह साधककी साधना, प्रेमीका प्रेम और लीलामयकी लीला-विचित्रताकी अभिव्यक्ति है।

इसलिये भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की। इस श्लोकांशको देखनेपर यह मानना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णने रमणकी इच्छा की। फिर कहते हैं कि भगवान्‌की किसी भी लीलाका तात्पर्य यदि खोजने जायें, रसारवादमें यदि हमारी प्रवृत्ति हो तो सबसे पहले यह ध्यान रखना चाहिये कि सच्चिदानन्दसिन्धु जो श्रीभगवान् हैं वे निरन्तर अनन्त लीलातरंगोंसे तरंगायित है अर्थात् यह जो सच्चिदानन्दसिन्धु भगवान् हैं—निरन्तर इनमें अनन्त लीलाकी तरंगे उठती रहती हैं। उनमें जो जिस तरंगमें खूबना चाहे उसके लिये उसीका अनुसंधान करना चाहिये। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंहादि ये सभी एक ही भगवान्‌के लीला विग्रह हैं और इन सारी मूर्तियोंमें कोई स्वरूप भेद न होनेपर भी ऐश्वर्य, वीर्यादि शक्तिके प्रकाशमें, लीला भेदसे तारतम्य होनेके कारणसे ही इनका तात्त्विक लोग अंश, पूर्ण कलादि नाम रखते हैं। स्वरूप भेद नहीं है। तो भगवान्‌के इन मूर्तियोंमें स्वरूप भेद न होते हुए भी उन मूर्तियोंमें जो लीला करते हैं वह अन्यमें नहीं करते। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें यह वर्णन है कि वहाँ जो लीलाएँ होती हैं वह लीला सीमित होती है। भगवान्‌में सीमा नहीं है। भगवान्‌की पूर्णतामें भेद नहीं है। स्वरूपमें भेद नहीं परन्तु लीला विकासमें भेद है। इसलिये ऐते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् (श्रीमद्भा० १।३।२८)। ‘अंशकलाका अर्थ उनकी पूर्णतामें कमी नहीं है। यह भगवान्‌के जो मत्स्य-कूर्मादि अवतार समूह हैं इसीलिये भगवान्‌के अंशावतार, कलावतार ऐसे माने जाते हैं। भगवान्‌का जो श्रीकृष्ण विग्रह है यह स्वयं परिपूर्ण है। तो भगवान् जब मत्स्य, कूर्मादि लीला करते हैं तब उनके परिपूर्ण ऐश्वर्यके प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती है।

उनमें है नहीं, सो बात नहीं। भई ! एक आदमी एक मन बोझ उठा सकता है परन्तु बोझ दो सेर ही है तो दो सेर उठता हुआ दीखता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं हुआ कि वह एक मन नहीं उठा सकता है। इसी प्रकारसे वहाँपर परिपूर्ण रूपसे ऐश्वर्य—वीर्यादि शक्तियोंके प्रकाशनकी आवश्यकता नहीं परन्तु जब श्रीकृष्ण रूपमें लीला करते हैं भगवान् तब उनकी सारी शक्तियोंका प्रकाश होता है—इसलिये कहते हैं कि ये 'स्वयं' भगवान् है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' ।

भगवान् ने रमण करनेकी इच्छा की—'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' इसपर अगर निरपेक्ष भावसे समालोचना की जाय तो यह बात ठीक ध्यानमें आती है कि लीला प्रकरण भगवान् की अनन्त मूर्तियोंके तारतम्यसे यह एक होने पर भी ज्ञानीके ज्ञान साधनसे निर्विशेष ब्रह्मरूपकी अनुभूति होती है। योगीके योगसाधनसे परमात्मा रूपकी अभिव्यक्ति होती है और भक्तोंके भक्ति साधनसे वही भगवान् भगवत् रूपसे प्रकाशित होते हैं। जो मत्स्य, कूर्मादि अनन्त मूर्तियोंमें अनन्त लीला करते हैं, उन्हीं भगवान् सच्चिदानन्द विग्रह स्वयं श्रीकृष्णने रमण करनेकी इच्छा की। यह दिखाया कि ब्रह्म, परमात्मा और अनन्त अवतार स्वरूप इनमें तत्त्वतः स्वरूपतः भेद नहीं है। इच्छा उन्होंने ही की परन्तु उनमें इच्छा है नहीं। यह भगवान् शब्द इसीलिये आया है कि ब्रह्मसे और परमात्मासे और अन्यान्य अवतारोंसे यह अलग है। 'श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' यहाँ जो भगवान् है वह श्रीकृष्णके लिये है। अवतारोंसे भेद, ब्रह्म—परमात्मासे भेद स्वरूपतः भेद नहीं है। तो 'भगवानपि ता रात्रीः' इस श्लोकांशमें 'भगवान्' शब्दपर विचार करनेसे पूर्वोक्त युक्तियोंके द्वारा यह सिद्ध हो गया कि यहाँपर श्रीकृष्ण ही 'भगवान्' शब्द वाच्य है।

इसीलिये कहते हैं यही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही ज्ञान और योग साधनाकी सिद्धिकी दशामें ज्ञानी और योगियोंको निश्चल वित्तवृत्तिके द्वारा ब्रह्म और परमात्मा रूपसे प्रकाशित होते हैं और यह भगवान् मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, राम, नारायण आदि मूर्तियोंमें आविर्भूत होकर विविध लीलास्वादन करते हैं। तथापि यह सर्वलीला मुकुटमणि रासलीला यह उनकी कृष्णमूर्तिमें अनुष्ठित होती है और मूर्तियोंमें नहीं। यह लीला इनकी इसी मूर्तिका निजस्व है। अर्थात् रासलीला, श्रीकृष्ण विग्रहका निजस्व है। अपनी चीज है। और मूर्तियोंमें षड्विध शक्ति रहने पर भी इस लीलाका विकास नहीं। तो अब फिर कहते हैं कि यहाँपर इन छः महान् शक्तियोंका पूर्ण विकास है। यहाँ बड़ी

सुन्दर बात है कि मत्स्य, कूर्मादि लीलामें क्या भेद दिखाते हैं कि सब मूर्तियोंमें भगवान्की जो वशीकरण शक्ति है उसका विकास है; परन्तु सर्ववशीकारस्त्वका विकास नहीं है। क्यों ? तो कहते हैं कि उन मूर्तियोंमें भगवान्ने दूसरे सबको निजवशमें किया और अपने किसीके वशमें नहीं हुए। औरोंको अपने वशमें किया और स्वयं वशीभूत नहीं हुए। आत्मपर्यन्त—अपनेको भी वशमें करनेसे जो सर्ववशीकारस्त्व शक्तिकी सिद्धि होती है वह उनमें नहीं हुई। भगवान्की एक मात्र श्रीकृष्णलीलामें ही ऐसा हुआ। माँ यशोदाके बन्धनमें बद्ध होकर 'दामोदर' नामसे प्रसिद्ध इसी अवतारमें हुए और कहीं नहीं हुए। कहीं भी पेटमें रस्सी बँधवाकर दामोदर बने हों—अपने—आपको किसीके वशमें कर दें ऐसा कहीं नहीं हुआ और खेल ही खेलमें—एक दिनकी बात है कि इनमें आपसमें होड़ लगी कि जो हारे वह छोड़ा बने। तो इनको हरावे कौन ? भगवान्में सर्ववशीकारस्त्व शक्तिका विकास है। स्वयं हारना चाहें तो हारें। तो हार गये। हार गये तो श्रीदामने इनको छोड़ा बनाया। ये श्रीदामके छोड़े बने और श्रीदाम इनपर सवार हो गए और ले गये वशीवटतक। इसी अवतारमें मानिनी श्रीराधाके चरणोंकी साधनाकी—'देहि में पदपल्लवमुदारम्'

अतएव इस प्रकार भगवान्ने आत्मपर्यन्त अपने—आपको सर्ववशीकारस्त्व शक्तिके द्वारा वशमें किया हो ऐसा कहीं नहीं किया। यही किया और यह चीज बड़ी कठिन। विचार करनेपर मालूम होता है कि दूसरेको वशमें रखनेकी अपेक्षा अपनेको वशमें करना कठिन है। कोई अच्छा विद्वान्, बुद्धिमान्, बलवान् आदमी यह कभी कर नहीं सकता कि अपनेको वशमें करा दे। शक्तिमान् व्यक्ति मात्र हीन शक्तिके तो अपने वशमें करना चाहता है और कर सकता है। परन्तु स्वयं शक्तिमान् होकर भी शक्तिहीन व्यक्तिके वशमें हो जाय, ऐसे श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीदाममें क्या शक्ति, यशोदामें क्या शक्ति, राधिकामें क्या शक्ति, सारी शक्ति तो इनकी परन्तु उनके वशमें हो गये। यह सर्ववशीकारस्त्व ऐश्वर्यका प्रकाश श्रीकृष्णमें ही हुआ और कहीं हुआ नहीं। 'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः' (ब्रह्म संहिता) तो यह भगवान् हैं और सब तो ईश्वर हैं। यह परम ईश्वर हैं क्योंकि इसमें यह अपनेको भी दूसरेके वशमें रखनेमें समर्थ हैं। अपनेको दूसरेके वशमें कर दे शक्तिमान् यह उस शक्तिमान्की बड़ी सामर्थ्य है। मामूली बात नहीं।

श्रीकृष्णलीलामें जैसे परिपूर्ण ऐश्वर्यका विकास है इसी प्रकार अचिन्त्य महाशक्ति 'वीर्य' का भी पूर्ण विकास है। वह कैसे ? श्रीकृष्ण लीलामें

पूतनाका वध किया, समलीलामें भी तो राक्षसी ताड़काका वध किया—एक सी बात। परन्तु नहीं, राक्षसीका वध दोनोंने किया यह तो एक—सी बात परन्तु वध करनेकी प्रक्रियामें, स्थितिमें भेद है। श्रीरामचन्द्रजी और श्रीकृष्णमें भेद नहीं है। परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रने विश्वामित्रके पास पहले महान् प्रभाववाले अस्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण की। जब विश्वामित्र ले गए तो पहले रामको अस्त्रदान दिये। उसके बाद ब्रह्मतेजसम्पन्न शस्त्रके द्वारा उन्होंने ताड़काका विनाश किया, मारा। किन्तु पूतनाको मारनेमें कौन—सा अस्त्र लिया भगवान्ने। स्तनपायी—छः दिनके बच्चे—स्तनपीनेवाले उस शिशुमूर्तिने स्तन्य पान करते करते घोराकृति पूतना राक्षसीका संहार कर दिया। इस 'वीर्य'का प्रकाश और कहाँ हुआ बचपनमें ? पुनश्च, गोवर्धन धारण यह अचिन्त्य शक्तिका ही वैभव है। भगवान्ने कूर्म मूर्तिमें भी तो पृथ्वी धारण किया था परन्तु भेद है। कूर्ममूर्तिमें मन्दर पहाड़को धारण किया पीठपर, तो वहाँ पीठको सौ योजन विस्तारवाली बनाया पहले। सौ योजन विस्तारवाली कूर्मकी पीठ बनी तब उसपर मन्दराचलको धारण किया, पहाड़ उठाया। पर यहाँपर तो कनिष्ठिका अँगुलीपर यो उठा लिया गिरिराजको। यह वीर्यका प्रकाश कहीं और हो तो बताओ ? उस समय सात वर्षके बालक थे। कूर्मावतारमें केवल मन्दराचलको उठाया तो वहाँ भी नीचे समुद्र रहा, यहाँ तो अँगुलीपर उठाया और उसके नीचे तमाम ब्रजवासियोंकी रक्षा की। गो—गोपी सबकी रक्षा की। अतएव श्रीकृष्ण लीलाके समान अचिन्त्य वीर्यका शक्तिका प्रकाश और कहीं नहीं है।

इसी प्रकार यशका, श्रीका, ज्ञानका, वैराग्यका, पूर्णतम प्रकाश इस मूर्तिमें है। भगवान्की सभी लीलाओंमें यश है, सदगुणकी ख्याति है। इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु परिपूर्णता नहीं। भगवान् रामने, नृसिंहने लीलाओंमें असुरोंका विनाश किया परन्तु उनकी किसी भी लीलामें असुरोंकी मुक्ति नहीं हुई। जय—विजय जो थे हिरण्यकश्यपु और हिरण्याक्ष बने, फिर रावण—कुम्भकर्ण बने तो मारा उनको, विनाश किया परन्तु वहाँ उनकी मुक्ति थोड़े हुई। वह जब शिशुपाल—दन्तवक्त्र बने तब इन्होंने मारा और तब मुक्ति हुई। तो यश—विस्तार भी यहाँ पूरा है। वहाँ मारनेका यश—विस्तार तो है परन्तु इनकी मुक्ति नहीं हुई। यह तो जय—विजय थे जिनके तीन जन्मोंके बाद मुक्ति हुई और मुक्त यहाँ हुए, वहाँ नहीं हुए। इसलिये भगवान्के यशका विस्तार भी यहाँ हुआ। क्योंकि मृत्युकालमें यदि भगवान्की भगवत्ता परिपूर्ण रूपसे जागृत हो जाय

तो मुक्ति हुए बिना रहती नहीं है। हिरण्यकश्यपु जब नृसिंह भगवान्‌के द्वारा मारा गया तब भी उसमें भगवत् बुद्धि नहीं थी। हिरण्याक्षमें भगवत् बुद्धि नहीं थी भगवान् द्वारा मारे जानेके समय। और रावणमें संन्देह था कि नर है कि ईश्वर है परन्तु शिशुपालादिके अनुभवसे सिद्ध है कि उनकी मुक्ति हो गयी। भगवान्‌से उसका द्वेष था परन्तु उसकी मुक्ति हो गयी। क्यों हो गई ? ऐसा वर्णन आता है कि चतुर्भुज भगवान्‌का सेवक था शिशुपाल। श्रीकृष्णके साथ तो द्वेष था पहलेसे और शिशुपाल निरन्तर उनके सहस्रनामका पाठ करता तो श्रीकृष्णका नामोच्चारण होता। इस बार-बारके नामोच्चारणसे और भयके मारे रूप-चिन्तनसे शिशुपालके प्राणनाश होनेके साथ ही लोगोंने देखा उसकी मुक्ति हो गयी। प्रमाण क्या है ? सारी सभा प्रमाण है। यह छिपकर काम नहीं हुआ वहाँपर कि मुक्ति कहीं चुपचाप, गुपचुप मिल गई हो—सो नहीं। सभामें सबने देखा तेज निकला और वह तेज भगवान्‌के चरणोंमें प्रवेश कर गया। ऐसा हिरण्यकश्यपुके साथ नहीं हुआ। इसलिये इनके यशका विस्तार-जितना यहाँ है उतना अन्यत्र नहीं। इसी प्रकारसे कूर्मादि मूर्तियोंमें 'श्री' है अर्थात् सर्वसम्पत्ति है परन्तु वहाँकी सर्वसम्पत्तिमें पूर्ण विकास नहीं है।

प्रियः कान्ताः कान्तः परम-पुरुषः कल्पतरु

द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।

कथा गानं नाट्यं गमनपि वंशी प्रियसखी

चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥

(ब्रह्मसंहिता ५-५६)

भगवान् श्रीकृष्णने जब वृन्दावनमें लीला की उस समय उनका जो वैभव प्रकाश हुआ सम्पत्तिका वह कहा नहीं जा सकता। इस लीलामें महालक्ष्मियाँ तो कान्ता और परमपुरुष श्रीकृष्ण उनके कान्त। वृन्दावनके सारे वृक्ष कल्पवृक्ष। वृन्दावनकी भूमि चिन्तामणिस्वरूप। वृन्दावनके जलके सरोवर सभी अमृत। संगीत ही थी वृन्दावनकी बातचीत। सभी गानेमें ही बोलते थे वहाँपर। प्रत्येकके बोलमें ही राग निकलती थी और वृन्दावनका नृत्य ही गमन, मानों नाच रहे हैं प्रत्येक आदमी और वृन्दावनकी जगन्मोहिनी वंशी श्रीकृष्णकी प्रिय सखी। वहाँके चन्द्र सूर्यादि और रूप-स्पर्शादि सारे-के-सारे सच्चिदानन्दमय हैं। कृष्ण लीलाके सिवाय ऐसी अनिर्वचनीय शक्तिका प्रकाश और कहाँ हुआ ? यह भगवान्‌के ऐश्वर्य वीर्यादि षडसम्पत्तिके

अन्दर यह महाशक्ति हैं।

श्रीशक्तिका होता है एक अलग स्वरूप—रूप—सौन्दर्य। कहते हैं कि श्रीकृष्णका जो रूप है यह परिपूर्ण भावसे प्रकट है। भगवान् ने सारी मूर्तियोंमें लीला की और सभी बड़ी सुन्दर परन्तु श्रीकृष्ण मूर्ति जो है वह सर्वमनोरम है। प्रह्लादने भगवान् नृसिंहमें भी सौन्दर्य देखा इसमें सन्देह नहीं लेकिन श्रीकृष्णमें उसमें अन्तर है क्योंकि वह सबको नहीं दिखाई दिया। ब्रह्मा डर गए, लक्ष्मी डर गयीं, देवता डर गए, ऋषि—मुनि, तत्त्वज्ञ डर गए परन्तु प्रह्लादको सौन्दर्य दीखा। श्रीकृष्णकी मूर्ति जो है यह सुरासर चित्त—वमत्कारिणी है और यहाँ तक कि अपने—आपको मोहित कर लेती है। अपने रूपको कहीं दर्पणमें देख लेते थे तो मोहित हो जाते थे, अपने रूप पर स्वयं ही। यह सर्वविस्मातनी, आत्मविस्मातनी भगवान् की मूर्ति है।

भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति, नर—लीलारूप और चित्तशक्ति—वैभवके प्रकाशके लिये ग्रहित, अपने आपको मोह देने वाली, सौभाग्य सम्पत्तिसे युक्त, भूषणकी भी भूषणस्वरूप, गहनोंको भी सजा दे ऐसी है। माने दूसरी मूर्तियाँ बाहरकी चीजोंसे सज्जित होती हैं। कहते हैं कि ऐसा कपड़ा पहनाओ, ऐसा गहना पहनाओ। यह आया है कि एक दिन यशोदा मैया गहने और कपड़े पहनाने लगीं। पहनावें उतार दें फिर पहनाती फिर उतार दें तो सखियोंने कहा कि मैया ! क्या तू आज पगली हो गयी है। यह पहनाती फिर उतारती, पहनाती फिर खोलती, क्या बात है ? तो बोली कि, यह नहीं पहनाती तो सुन्दर दीखता है और पहनानेपर सुन्दरता घट जाती है। कपड़े, गहने पहनाकर इसकी सुन्दरता घटा रही हूँ—ऐसा मालूम पड़ता है। एक सखी बोली, मैया ! इसको कपड़े पहनाओ, ठीक है, परन्तु यह भूषणका भूषण है, अलंकारका अलंकार है, शोभाकी शोभा है, परन्तु इसको किसीसे शोभा हो जाय; यह ऐसा नहीं है। तो कहती है कि ऐसा सौन्दर्य, ऐसी श्री किसको प्राप्त हुई ? किसीको नहीं हुई।

सन्ति भूपि निरुपानि मम पूर्णानि षड्गुणैः।

भवेयुस्तानि तुलयानि न मया गोपरूपया।।

(ब्रह्माण्ड पुराण)

भगवान् ने स्वयं कहा कि ऐश्वर्य वीर्यादि षड्विध सम्पत्तिसे परिपूर्ण मेरी अनन्त मूर्तियाँ हैं। मैं सबमें लीला करता हूँ लेकिन मेरा जो यह गोपरूप—कृष्णरूप है इसकी तुलना कहीं नहीं होती है।

चैत कृष्णदेवस्य सर्वमेवाम् अद्भुतं भवेत् ।
गोपालीला तत्रापि सर्वतोत् मनोहराः ॥

(पद्मपुराण)

भगवान् श्रीकृष्ण किसी प्रकारसे भी कोई लीला क्यों न करे, वह परम अद्भुत है, परम मनोहर है। उनका चलना भी, खेलना भी, खाना भी, सोना भी, सब मनोहर और उनकी जो गोपाल लीला है यह तो जैसी मनोरम और अद्भुत है वैसी और कोई लीला है ही नहीं।

इस प्रकार शास्त्र वचनोंसे यह बात सिद्ध होती है कि भगवान्की नाना मूर्तियों—मत्स्य, कूर्मादि, नृसिंहमें महाशक्ति परिपूर्ण स्वरूपगत सम होनेपर भी कृष्णमूर्तिमें परिपूर्णताका विकास है, इसलिये 'श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। इसमें ज्ञान—वैराग्यका भी पूर्ण प्रकाश है। भगवान्की सर्वज्ञता, स्वप्रकाशिता और स्वप्रयोजनीयताको ज्ञानशक्ति कहते हैं। साधारणतः हमलोग ज्ञानका अर्थ समझते हैं कि किसी विषयवस्तुकी जो चित्तवृत्ति हो जाय उसका नाम ज्ञान। किन्तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्' (श्रीमद्भा० १०। २८। १५) यह श्रुति है। कोई यह वस्तु विषयकी चित्तवृत्ति नहीं है। जब वस्तुकी सृष्टि ही नहीं हुई थी तब भी भगवान्का स्वरूपभूत ज्ञान था। यह भगवान्का स्वरूप था ही। इसलिये भगवान्की जो सर्वज्ञता शक्ति है—ज्ञान—यह भगवान्की सम्पत्ति है इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु इसका विकास श्रीकृष्णमें जैसा था वैसा और कहीं नहीं हुआ; किसी भी लीलामें। यह छः दिनके बच्चे थे। यशोदा मैयाके प्रसवागार—सूतिकाघरमें यह कोमल शैव्यापर सीधे सो रहे थे—उत्तान और माँ यशोदा देख-देखकर वात्सल्य रसास्वादन कर रही थी, मुग्ध हो रही थीं। इतनेमें पूतना आयी। पूतनाके आते ही वह मुग्ध बालकोवित अज्ञानकी आड़में उनका सुप्रकाश ज्ञान प्रकट हो गया।

'विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं, चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षणः'

(श्रीमद्भा० १०। ६। ८)

यशोदाके साथ परम आदरके साथ लाड़—घावके साथ सीधे सोये हुए शिशु 'हरि' हैं। वह मुग्धकारी—बाललीला सिन्धुमें निमग्न रहनेपर भी चराचरके अर्न्ध्यामी हैं। इसलिये यह बालघातिनी पूतनाका आना उनसे अज्ञात नहीं रहा और कहते हैं कि दुर्जनका मुँह नहीं देखना चाहिये तो भगवान्ने आँखें मीच ली। मुग्ध गोपाल बालक रूपी सर्वज्ञ भगवान्की

लीलाके अनुसार तो वहाँपर अज्ञता थी। छः वर्षके बच्चेमें ज्ञान नहीं रहना चाहिये। लेकिन उस अज्ञताकी आड़में महासर्वज्ञता छिपी और फिर वह प्रकट हो गयी और ऐसा उनकी बहुत—सी लीलाओंमें हुआ। दो चीज एक साथ चली। एक तरफ लीलाकी अज्ञता और एक तरफ स्वरूपकी सर्वज्ञता। ब्रह्माजी आये श्रीकृष्णकी बाल लीलाके माधुर्यका आस्वादन करनेके लोभसे। ब्रह्माजीका जो बच्चोंको और बछड़ोंको चुराकर ले जाना, उनको मोहित करना यह ब्रह्माजीके लीला रसास्वादनकी इच्छा थी। देखें और देखें। वहाँपर पहले तो भगवान् ढूँढने गए। वनमें ढूँढा, इधर—उधर ढूँढा—अज्ञता और उसके बाद—

सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह (श्रीमद्भा० १०।१३।१७)

तुरन्त उनके यह बात ध्यानमें आ गयी। पूर्ण सर्वज्ञताका विकास हो गया कि सारा काम ब्रह्माका है, जान गये। यह किस बाल लीलामें सर्वज्ञता प्रकट हुई? किसी अवतारमें नहीं हुई। यहाँ दिग्दर्शनके लिये केवल दो चीज बतायी है। इनके तो ऐसी बहुत—बहुत हुई। लेकिन कृष्ण लीलामें विशेष बात और जो मत्स्य, कूर्मादिमें नहीं हुई, वह है सुप्रकाशिता। और लीलामें क्या हुआ कि सभीने उनको चाहा, उनसे चाहा। किसीने भोग माँगा, किसीने मोक्ष माँगा, किसीने सिद्धि माँगी परन्तु इस लीलामें विचित्रता है। व्रजके गोप, व्रजकी गायें, व्रजकी गोपियाँ—इनकी लीला देखनेसे यह मालूम होता है कि सभी श्रीकृष्णकी सेवाके लिये लालायित हैं। विशुद्ध अनुरागमें माँगते नहीं हैं। सब देनेको लालायित है। गाय कहती हैं कि हमारा जो अमृतको भी मात करनेवाला दूध है, यह श्रीकृष्ण पीते रहें। गाय चाहती हैं कि हमारे स्तनोंको आकर कन्हैया मुँह लगा ले। मुँहसे पी लें तो हम निहाल हो जायें। श्रीकृष्णके लिये जिस गायका दूध दुहा जाता है उसका दूध बढ़कर दूना, तिगुना हो जाता। अमृतत्व आ जाता। व्रजके पशु—पक्षी, वृक्ष—लता सब—के—सब किसीने श्रीकृष्णसे कुछ नहीं चाहा और जिसके पास जो था उसे श्रीकृष्णके आनन्दवर्धनके लिये प्रस्तुत किया था। सबने दिया। किसीने माँगा नहीं। औरोंकी बात ही क्या मयूरादि पक्षी—ये अपने पंखोंमें—पिच्छको सुन्दर बनाते इसलिये कि यह हमारी पँख ले लें और अपना जूड़ा बना लें। मयूरोंने इस प्रकारसे सेवा की। वृक्ष—लताओंने सब प्रकारके फूलोंसे परिपूर्ण होकरके अपनी सेवा प्रदान की। कोयलोंने, शुकोंने मधुर आलाप किया। जब वे पास आते तो ये मजेमें गाने लगते। सुग्गे बोलने लगते, कोयल बोलने लगती कि इनको आनन्द मिले

ऊँचे वृक्ष दूरसे देखते—जब देखते कि ये आ रहे हैं तो फल—फूलोंसे लद जाते और दूरसे कहते कि हमारे फल लगे हैं इधर आ जाओ। यह मानो पुकारते श्रीकृष्णको। कन्हैया ! इधर आओ हमारे पास मधुर फल है। छाया बड़ी अच्छी है, ऊपर देखो ! हमारे फलोंमें कितनी सुगन्ध है। तुम इधर आ जाओ।

इस प्रकार सबने श्रीकृष्णको दिया और सदा ही ये मनमें किया सबने कि हमको भोगते रहें। हमारा उपभोग करते रहें—जड़—चेतन सब। ब्रजकी गोप—कुमारियोंने कल्यायिनी—व्रत किया—श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेके लिये। इससे यह बात सिद्ध होती है कि ब्रजलीलामें कृष्ण ही सबके प्रयोजन हैं। उनकी सेवा प्राप्त करनेके लिये सब लालायित हैं। श्रीकृष्णकी जो सर्वप्रयोजनीयता है इसका पूर्ण विकास यहीं पर हुआ और कहीं नहीं हुआ। अन्यान्य लीलाओंमें नहीं हुआ। सभीने सबसे 'धनं देहि, यशो देहि, पुत्रं देहि' कहा। नारायणके पास भी गये लोग तो माँगा महाराज दे दो—मुक्ति दे दो। परन्तु ब्रजके विशुद्ध अनुरागमय क्षेत्रमें सबने कहा ले लो ! ले लो !! ले लो !!! यह चीज कहीं भगवान्के किसी स्वरूपमें नहीं हुई। किसीने प्रार्थना नहीं की। बल्कि सबने देना चाहा। किसीने अगर माँगा भी तो दूसरी चीज भी माँगनेवालेको इन्होंने अपनेको ही दे दिया। श्रीकृष्ण लीलाकी सर्वज्ञता, सर्वप्रकाशिता, सर्वप्रयोजनीयता—यह तीन प्रकारकी ज्ञान शक्तिका पूर्ण विकास यहीं पर हुआ और कहीं नहीं हुआ।

भगवान्की वैराग्यशक्ति, विषयासक्तिशून्य साधकोंके वैराग्यकी भाँति साधनलब्ध वस्तु नहीं है। यह भगवान्की स्वाभाविक निर्लिप्तता है। इसे भगवान्ने गीतामें कहा—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववास्थितः' (गीता ६। ४)

हम उनमें लिप्त नहीं हैं, वे हमारेमें हैं। इस प्रकारसे ये सबके सब प्रकारसे पूर्णरूपसे आकर्षक होकरके प्रकट और कहीं नहीं हुये। फिर कहते हैं कि भगवान्ने पुरुषावतारमें प्रकृतिका निरीक्षण किया। प्रकृतिकी ओर देखा और उससे विश्वकी सृष्टि हो गयी। यद्यपि प्रकृतिके साथ भगवान्का सम्बन्ध नहीं है परन्तु कम—से—कम सम्बन्ध निरीक्षणका तो है। प्रकृतिको देखा और भूमिका भार—हरण करनेके लिये अवतीर्ण भगवान्में भू—भार—हरण कार्यके साथ कोई बाध्य—बाध्यता न होने पर भी इसमें जगत्की किंचित् गन्ध तो थी ही न ! परन्तु श्रीकृष्णके इस स्वरूपमें माया और मायिक जगत्की कोई गन्ध भी नहीं है। इनका यह प्रपञ्चानुकरणमें प्रपञ्चातीत लीला थी। इसको

देखकर प्रपञ्ची लोग भले ही प्रपञ्च मान ले उनमें; परन्तु यह सम्पूर्ण रूपसे माया-सम्बन्ध-गन्ध-लेशविहीन हैं।

‘मायासम्बन्धगन्धलेशविहीन ते’ मायाके सम्बन्धके गन्धका भी लेश नहीं था। इसीलिये ब्रह्माजीने कहा---

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयासि भूतले ।

प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३७)

हे भगवन् ! आप प्रपञ्चातीत हो करके भी आपके चरणोंमें जो एकान्त प्रपन्न हैं---प्रेमवान् भक्त उनके आनन्दवर्धनके लिये आप प्रपञ्चका अनुकरण करके अप्रापञ्चिक लीला करते हैं। इसलिये श्रीकृष्णकी लीलामें सम्पूर्ण-वैराग्यशक्तिका भी विकास है। यह कहते हैं कि भगवान् वृन्दावनमें गोप-गोपीके साथ प्रेम सम्बन्धमें आबद्ध और सम्पूर्ण रूपसे उसके वशीभूत हो करके भी जब छोड़कर चले गये मथुरा फिर याद भी किया क्या ? तो राग हो तब तो याद किये बिना रहा जाय क्या ? इसलिये वह बिल्कुल निर्लिप्त रहे और उधर देखा ही नहीं। द्वारिका-लीलामें असंख्य पुत्र-पौत्र, सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ—उनके एक-एकके दस-दस बेटे—हिसाब लगाओ तो लाखों-कराड़ोंकी संख्यामें पहुँच गयी। उन सबको लीलामें एक ही दिन मरवा दिया। एक ही दिन मरवा दिया और अपने हँसते रहे। क्या किसीने आजतक ऐसा किया है ? भगवान्की सारी लीलामें यह बात दीखती है कि कहीं आसक्ति है ही नहीं।

(३)

‘भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे’—भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की। सबसे पहले आये ‘भगवान्’ शब्द पर अपनी कुछ बातें हो चुकी हैं। शुकदेवजी महाराजने ‘भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे’ यह अगर न कहकर ‘श्रीकृष्णोपि रन्तुं मनश्चक्रे’ कहते तो लोग अनायास समझ लेते कि यह श्रीकृष्णकी लीला है। फिर यह अर्थान्तर करनेवाले जो लोग हैं वह यह कहते कि श्रीयोगिनीकी बात है या अध्यात्मकी बात है या और कोई बात है।

तो उन्होंने ‘श्रीकृष्णोपि रन्तुं मनश्चक्रे’ न कहकर ‘भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे’ यह क्यों कहा ? तो कह सकते हैं कि शुकदेवजीको उनके बाद होनेवाले इन अध्यात्मिक मनीषियोंकी कल्पना नहीं आयी होगी कि ये अर्थ

करेंगे दूसरा। बड़े लोग दूसरा अर्थ करेंगे यह बात मनमें नहीं आयी। दूसरी बात यह—एक शब्दार्थ—गौरव भी होता है; जैसे कोई सूर्य उदय हो रहा है ऐसा न कह करके 'अयम् उदयति मुद्राभंजनम् पद्मलीलाम्'—जो यह कमलनियोंके मुकुलित भावोंको दूर करते हैं वे उदय हुए। तो यह अलंकारिक गुणोंके सिद्धान्तसे यह शब्दार्थ सौष्ठव है। इसलिये शायद उन्होंने 'भगवानपि' कहा होगा। क्योंकि इसमें ऐश्वर्य वीर्यादि षडविध महाशक्तियुक्त भगवान्का वर्णन है। इसमें एक बात और है—श्रीकृष्णने रमण करनेकी इच्छा की ये बात कहनेपर पढ़नेवाले यही जानते कि ब्रजराजनन्दन यशोदाके स्तनपान करनेवाले श्रीकृष्ण अथवा बहुत कहते तो सर्वाकर्षक परमानन्दघन श्रीकृष्ण, इन्होंने रमण करनेकी इच्छा की। यही अर्थ ध्यानमें आता। ऐश्वर्य वीर्यादि सम्पन्न जो षडविध महाशक्तिवाले भगवान् हैं—यह बात ध्यानमें नहीं आती। जो श्रीकृष्णको भगवान् मानते हैं उनकी बात थोड़ी दूर अलग छोड़ दें लेकिन जो अज्ञ लोग हैं, बहिर्मुख हैं, निन्दक लोग हैं उनके तो यह भाव ग्रहणमें आता ही नहीं कि भगवान्ने इच्छा की। कृष्णने इच्छा की, क्योंकि यह नरलीला विग्रह स्वरूप जो भगवान्का ऐश्वर्य माधुर्यादि सम्पन्न स्वरूप है; यह जो भजन विमूढ़ लोग हैं उनके ध्यानमें आना बड़ा कठिन है। इसीलिये शायद गीतामें भगवान्ने कहा—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(६। ११)

तो समस्त भूतोंमें महेश्वर हम हैं इस तत्त्वको मूढ़ लोग मेरे इस नर लीलामय विग्रहमें नहीं जानेंगे। इसकी अवज्ञा करते हैं। तो श्रीकृष्ण कह देनेसे जो श्रीभगवान्के चरण—भजन—परायण हैं उन भक्तोंके मनमें तो ऐश्वर्य माधुर्य निकेतन सच्चिदानन्दघन विग्रह स्वयं भगवान्की धारणा हो जाती है। परन्तु जो श्रीकृष्ण तत्त्वसे अनभिज्ञ हैं और भजन विमुख साधारण मानव हैं उनके मनमें अधिक—से—अधिक आता तो एक सामान्य मानव या आदर्श पुरुष या महामानव, इसके आगे वह नहीं जा सकते। शुकदेवजी महाराज त्रिकालदर्शी हैं। उनको तो भगवान्की बात कहनी है और श्रीकृष्ण भगवान् हैं, इस बातको कहना है। भगवान्का रमण बतलाना है, मानव—रमण नहीं। इसलिये उन्होंने भगवान् शब्द कहा। मतलब यह कि जो रासलीला कर रहे हैं ये मनुष्योंकी भाँति मनुष्य नहीं और आदर्श पुरुष नहीं अथवा बहुत परिमार्जित बुद्धिवाले लोगोंकी कल्पनावाले महामानव भी नहीं। यह भगवान् है ऐश्वर्य, वीर्यादि

षडविध महाशक्ति इनकी स्वाभाविक सम्पत्ति है। अथाचित करुणा और भक्त वात्सल्य इनका स्वतःसिद्ध गुण है। सारे जीवोंके ये नियन्ता हैं। ये तुम्हारी हमारी भाँति असंख्य जीवोंसे समन्वित कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके नायक हैं और सारे ब्रह्माण्ड इनकी भृकुटि-विलास है। इनकी भाँहोंका खेल है। समस्त जड़ वस्तु और जड़ बुद्धिके अतीत इनका जो ये श्रीविग्रह है वह शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप है। हमलोग करोड़ों आदमी चाहे इनकी निन्दा करें, चाहे इनकी प्रशंसा करें इनका कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं है। तथापि ये स्वभावसिद्ध करुणावश मायाबद्ध जीवोंकी मोहकी बेड़ी काटनेके लिये स्वतः प्रवृत्त होकर, किसी दूसरेकी प्रेरणासे बाध्य होकर नहीं; ये युग-युगमें विविध लीलाका विकास किया करते हैं।

इसलिये चाहे कोई निन्दा करे, स्तुति करे, कोई परवाह नहीं है। सूर्य उदय होता है तो न जाने कितने जीव जाकर क्या-क्या करते हैं लेकिन सूर्यके उदय होते ही जो सज्जनगण हैं नित्य, नैयेत्यिक कर्मपरायण हैं वे तो 'नमो विदस्वतो ब्रह्मन्' यह कहकर अर्घ्यदान करते हैं। 'ध्वायन्ताम् सर्व पापघ्नम्' कहकर चरणोंमें प्रणाम करते हैं। इसी प्रकारसे श्रीकृष्णचरण सेवन परायण जो भक्त हैं वे मूढ़ोंके, कुतार्किकोंके, निन्दकोंके अथवा अज्ञान कल्पित निन्दावादके अथवा लीलाकी विचित्र-विचित्र कल्पना करके अध्यात्मिक अर्थ करनेवालोंकी परवाह नहीं करते हैं।

वे तो 'जगन्नियन्ताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः' कहकर भगवान्के चरणोंमें प्रणत होते हैं। शुक्रदेवजी कृष्णलीलारस तत्त्वज्ञ हैं और यह जो रासलीला है वह समस्त लीलाओंकी मुकुटमणि है। इसे लीलाके वर्णनका आरम्भ करते समय रासरसिक श्रीभगवान्के कृष्णनामका उल्लेख न करके भगवान्के नामसे इनका परिचय देते हैं। इससे बहिर्मुख लोगोंको दूसरे-दूसरे अर्थ करनेकी सुविधा तो मिली। श्रीकृष्ण होनेपर नहीं मिलती। किन्तु भगवान् कहनेसे भगवान्के चरणोंमें जो नित्य शरणागत भक्त हैं; उनके लिये रासलीलाका तत्त्व, महत्त्व और सिद्धान्त जानना भी सहज हो गया। क्योंकि श्रीकृष्णने रमण करनेकी इच्छा की यह कहनेपर श्रीकृष्ण स्वरूपके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष तो अवश्य ही यह समझते हैं कि जो भगवान् सर्वशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं वे ही श्रीकृष्ण हैं और उन्होंने रमणकी इच्छा की। किन्तु रमण कार्यमें भगवत्ताकी प्रयोजनीयता है कि नहीं—इस रमणमें ? यहाँ बड़ा सुन्दर विवेचन आवेगा—इस रमणमें भगवत्ताकी आवश्यकता है कि नहीं और

रमणके साथ भगवत्ताका क्या सम्बन्ध है ? यह धारणा होनी मुश्किल हो जाती यदि भगवान् शब्द नहीं रहता ।

व्यावहारिक जगत्में देखा जाता है कि कोई यह कहे कि उस सभामें जहाँ बहुत लोग बैठे हैं उस सभामें गोपाल नामक कोई आदमी बैठा है तो जिसका गोपालसे परिचय है वह तो जान जायेगा कि गोपाल एक संगीताचार्य है । परन्तु जिसका परिचय नहीं वह नहीं जान सकेगा क्योंकि एक नामसे गुणका परिचय नहीं मिलता । परन्तु यदि यह कहा जाय कि संगीताचार्य बैठा है और गोपाल नाम है तो समझमें आ जायेगा कि यह गोपाल वही जो संगीताचार्य है । तो जो उस गोपालसे परिचित है वह तो मान ही जायेंगे कि यह संगीताचार्य है पर सब लोग नहीं मान सकेंगे । और यदि यही कहा जाय कि गोपाल उस सभामें बैठा है तो गोपाल नामक कोई व्यक्ति बैठा है इसके सिवाय कोई धारणा नहीं होगी ।

शुकदेवजी महाराज भी यदि रासलीलाके वर्णनके प्रारम्भमें श्रीकृष्णने रमणकी इच्छा की यह बात कहते तो श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध बहिर्मुख लोग जो हैं वे यह कहते कि श्रीकृष्ण नामक एक आदमीने रमणकी इच्छा की । कृष्ण-भजनशील जो विज्ञगण हैं वे श्रीकृष्णके ऐश्वर्य, रूपादि बातोंको जानते हैं तो उनके लिये मनमें नहीं आती कि रमणकी उपयोगिता भगवान्के लिये क्या है ? भगवान् शब्द आनेपर यह जाना गया कि यह भगवान्का रमण है; नहीं तो रमणकी उपयोगिता नहीं । 'भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की' इस बातसे यह तत्काल ध्यानमें आ गया कि भगवान्का जो रमण है यह साधारण जीवोंका विलास नहीं है । इसके साथ ऐश्वर्य वीर्यादि षड्विध महाशक्तिका सम्बन्ध है—यह स्पष्ट है । इसीलिये 'भगवान् शब्द जानबूझकर दिया । फिर कहते हैं कि भगवान्ने रमणकी इच्छा की इससे सबकी स्वाभाविक यह धारणा होनी चाहिये कि यह रमण साधारण जीवका रमण नहीं है । भगवान्का रमण है और भगवान्का रमण है तो साधारण रमणकी अपेक्षा इसमें कोई विशेषता होनी ही चाहिये । क्योंकि केवल क्रियापदको कोई आदमी सुन ले तो कोई धारणा नहीं होती । क्रियापदके साथ जबतक कर्ताका संयोग नहीं होता तबतक ठीक बात समझमें नहीं आती । किसीने कहा कि 'जा रहा है ।' तो 'जा रहा है' से कुछ समझमें नहीं आता कि कौन जा रहा है ? कहाँ जा रहा है ? जानेवाला कैसा है ? परन्तु कोई यह कह दे कि भगवान्का वाहन पक्षीराज गरुड़ जा रहा है तो यह कहते ही धारणा हो जायेगी कि जो एक

निमेषमें हजारों योजन जा सकता है वह गरुड़ जा रहा है। अथवा कोई यह कह दे कि चींटी जा रही है तो यह कहते ही यह धारणा हो जायेगी कि बहुत कमजोर धीरे-धीरे चलनेवाला कोई जा रहा है। इसी प्रकार क्रियापदके साथ कर्ताका संयोग हुए बिना क्रियाका अर्थ ठीक ध्यानमें नहीं आता।

इसलिये वर्णनके आरम्भमें श्रीशुकदेवजीने 'भगवान्ने रमणकी इच्छा की' कहा तो यह धारणा हो जानी चाहिये कि यह रमण जीवका रमण नहीं है। इसमें कोई विशेषता है ही। इस बातको न जाननेवाले अदूरदर्शी और झूठी विज्ञताका अभिमान करनेवाले लोग यह 'रमण' शब्द सुनते ही कर्ताकी बात ध्यानमें न लगाकर केवल 'रमण' शब्दपर ही कह देते हैं कि यह तो अश्लील वर्णन है। और जो कोई उस रमण क्रियाको बहुत परिभार्जित करके और सुख-सेव्य बना लेना चाहते हैं कि अच्छे लोग इसे समझें, जो अपनेको बुद्धिमान् माननेवाले लोग हैं वे यह कहते हैं कि भई ! इस रूपकसे जीवात्मा और परमात्माके मिलनकी बात शुकदेवजीने कही है। यह विज्ञ लोग जो हैं ये उसका तदर्थ करते हैं। कोई कहते हैं कि भगवान्की उस समय अवस्था आठ वर्ष नौ दिनकी थी। तो कोई-कोई कहते हैं कि यह बच्चोंका खेल है। लेकिन इनमेंसे किसीसे भी 'भगवान्ने रमणकी इच्छा की' यह बात सिद्ध नहीं होती है। तो 'भगवानपि रन्तु मनश्चक्रे' इस बातको सुनकर भगवान्के रमणकी धारणा आनी चाहिये। भगवान् शब्दको कोई हटाकर और केवल रमण पर ध्यान देगा तब उसकी तो कुधारणा होगी ही और वह नाना प्रकारकी व्याख्या करनेकी कुचेष्टा किया करेगा। अश्लील बतावेगा, कुछ और बतावेगा परन्तु जो लोग भगवान्की अपार कृपासे पहले ही शुकदेवजीके इशारे पर—शब्दोंपर ध्यान देकर 'यह भगवान्का रमण है' अर्थात् ऐश्वर्य वीर्यादि षडविध महाशक्तिसे सम्पन्न भगवान्का इससे सम्बन्ध है तो वह जान लेगा कि यह कोई अप्राकृत जगतकी बात है जो जगत्के जीवोंको कृतार्थ करनेके लिये घटी है। अतः इन ऐश्वर्य-वीर्यादि छः शक्तियोंकी बात ध्यानमें आते ही यह धारणा करनी उचित है कि ऐसी महाशक्तिवाला जो कोई है उसको जीवकी भौति रमण करनेकी इच्छा हो ही नहीं सकती। क्यों नहीं हो सकती ? इसलिये कि भगवान् जो हैं उनकी सर्ववशीकारत्व शक्तिका नाम ऐश्वर्य है। ऐसा सिद्धान्त है। जिसमें सबको वशमें करनेकी शक्ति है उसको क्या अपने मन, इन्द्रियोंको वशीकरणकी शक्ति नहीं है। जो मन-इन्द्रियोंके वशमें होकर रमण करनेके लिये व्याकुल हो जायेगा। और खास करके 'स

ऐच्छत बहुस्यां प्रजायेयेति । यह श्रुतियोंसे जाना जाता है कि भगवान्‌के ईक्षण मात्रसे ही प्रकृतिसे चराचर ब्रह्माण्डकी सृष्टि हो गयी । भगवान्‌ने कहा—

‘मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्’ (गीता ६। १०)

तो ऐसे भगवान्‌ जिनमें इतना ऐश्वर्य है, इतनी शक्ति है वह क्या रमणके लिये कोई प्राकृत रमणकी इच्छा वाले होंगे ? इसलिये यह बुद्धिमान्‌ मात्रको समझ लेना चाहिये कि यह जिनके संकल्प मात्रसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति और लय होता है। वे स्वयं आत्माराम सच्चिदानन्दघनविग्रहके रमणका प्रयोजन कोई दूसरा है। परन्तु वह प्रयोजन क्या है ? एक विशेष बात ध्यानमें रखनेकी है जिन लोगोंने भगवान्‌के ब्रह्म-मोहन लीलाके सम्बन्धमें कुछ धारणाकी है वे जानते हैं कि ब्रह्माने जब वृन्दावनविहारी गोधारण परायण भगवान्‌के लीला माधुर्यका आस्वादन करनेके लिये बछड़ोंको और गोपबालकोंको चुसकर मायामुग्ध करके स्थानान्तरित कर दिया उस समय भगवान्‌ ही असंख्य गोपबालक बन गये। भगवान्‌ ही बछड़े बन गये और एक वर्ष तक लगातार आत्मरूपी गोपबालकोंके साथ, आत्मरूपी बछड़ोंके साथ खेलते रहे। इससे स्पष्ट यह जाना जाता है कि भगवान्‌ अगर इच्छा करते तो अपने आप ही करोड़ों गोपियाँ बन जाते और अपने आपमें ही खेल करते। सामर्थ्य थी ही फिर यह गोपियोंको बुलाकरके रमणकी इच्छा की। इससे स्वीकार ही करना पड़ेगा कि भगवान्‌ने गोप रमणियोंके साथ जो रमणकी इच्छा की इसमें विशेषता कुछ दूसरी ही है। वह साधारण बुद्धिके गोचर नहीं हैं। तो और ऐसी बात वह कोई है कि स्वयं शत कोटि गोपी बनकर जैसे वहाँ गोप बालक बने ऐसा बन जानेसे भगवान्‌की जो मनोकामना इस समयकी है वह पूर्ण नहीं होती। इससे यह मालूम होता है कि इसमें कुछ विशेषता दूसरी ही है। इस प्रकारसे भगवान्‌ने जो रमणकी इच्छा की यह रमण लौकिक विलास बिल्कुल नहीं है।

फिर कहते हैं एक बात और, दामोदर लीलामें जब भगवान्‌के पेटमें रस्सी बाँधी गयी—माँने बाँधी। उस समय जो भगवान्‌का वीर्य है—अचिन्त्य महाशक्ति वह अनिर्वचनीय चीज थी। उस लीलामें वात्सल्य प्रेमवती माँ अपने बायें हाथसे भगवान्‌के दाहिने हाथको पकड़े हुए है। हाथ कोई इतना बृहत् नहीं जो मुट्ठीमें न समाया हो—मुट्ठीमें उनके हाथ आ गया। और उन्हीं माताकी पहनायी हुई किकिनी उनकी कमरमें ज्यों-की-त्यों रही। छोटी नहीं पड़ी लेकिन साथ ही उसी समय बहुत-सी रस्सियोंको जोड़-जोड़कर माँने

बड़ा परिश्रम किया, थक गयी परन्तु बाँध नहीं सकी। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि यशोदा मैयाकी बाँधी मुट्ठीमें जिनका हाथ और जिनके पहनाये हुए हार और किंकिनी उनके वदनमें सुशोभित थे वे ही भगवान् उस समय रस्सी छोटी करनेवाले बन गये, बाँधे नहीं। एक साथ विभुता और मध्यवता दोनोंका प्रकाश किया भगवान्ने।

‘अणोरणीयान् महतोमहीयान्’ (कठोप० १। २। २०)

यह अचिन्त्य महाशक्ति वहाँपर साफ दिखाई दी कि एक तरफ तो मुट्ठीमें वही छोटा हाथ है। एक तरफ कमरमें वही तागड़ी है—वही पतली कमर, एक तरफ गलेमें हार है वही छोटा—सा गला और एक तरफ सारे गायोंकी रस्सी इकट्ठी करके कमर नहीं बाँधी जा सकी। इतनी बड़ी कमर हो गयी।

यह भगवान्की विभुता है। यह भगवान्का छोटापन यह बड़ा विस्मयकर है। इस महाशक्तिका हम अगर ध्यान करें तो गोपियोंके साथ भगवान्का रमण करनेकी इच्छा करना और उसके लिये चेष्टा करना यह कभी संभव होता है क्या ? यह सम्भव है ही नहीं।

श्रीमद्भागवतमें ऐसी चीजें बहुत हैं। यहाँ तो हमने दो—तीन उदाहरण मात्र दिये हैं। जहाँ भगवान्की विभुता प्रकट है और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, यश, श्री, ज्ञान—वैराग्यसे परिपूर्ण है यह बात पहले भी आ चुकी है, उससे भी धारणा कर लेनी चाहिये कि ऐसी शक्तिवाले भगवान् श्रीकृष्णका रमण, प्राकृत—लौकिक रमण कदापि नहीं है। इसलिये भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की—इस बातको सुनते ही रमणको लौकिक रमण मानकर कहना, सुनना, विचारना यह सिवाय अज्ञताके और अपराधके अन्य कोई वस्तु नहीं है।

पूतना राक्षसीको मातृगति दी, अघासुरादिको मुक्ति दी, ब्रजवासियोंको नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे बचाया, अगसे बचाया, वर्षासे बचाया, आँधीसे बचाया। यह भगवान्का अनन्त यश जो सारे संसारमें परिपूर्ण है। ब्रह्मा, शंकर, शेष, सनक, नारदादि भक्त जिनके यशका निरन्तर गान करते—करते कभी पूरा गान नहीं कर सकते, वे भगवान् अपने नित्य यशसेव्यपरीत उत्तम श्लोक नामवाले, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण यह परदारा रमणकी वांछा करते—यह कभी सम्भव था ? यह असम्भव चीज है। इसलिये यह रमण प्राकृतिक रमण नहीं और फिर वृन्दावनादिका दर्शन करके ब्रह्मादि मुक्त हो गये। चमत्कृत रह गये। यह वचन भागवतमें आया है कि सब प्रकारकी सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीजी भी जिनके चरणधूलिकणका स्पर्श पानेके लिये तप करती हैं।

उनके लिये क्या प्राकृत रमणासक्त होना कभी सम्भव है। वे सर्वज्ञ हैं, स्वप्रकाश हैं, जो सबके प्रयोजनीभूत आनन्दकी घनीभूत मूर्ति हैं; वे भगवान् किस प्रयोजनसे रमणासक्त हैं ? उनको क्या अभाव है ? जो प्रापञ्चिक वस्तु अथवा किसी प्रकारके प्रापञ्चिक भावोंसे सर्वथा अनासक्त हो गये, वैराग्यवान् हैं वही जान सकते हैं। भगवान्के इन बातोंको न जाननेवाले लोग ही अपनी कुरुधि वश अपने-आप जिस रमणका अर्थ करते हैं वही अर्थ लगाकर भगवान्के इस ऊँचे-से-ऊँचे सर्वलीला मुकुटमणि इस रासलीलाको अश्लील बताते हैं; और कोई-कोई बुद्धि लगाकर इसका जीवात्मा और परमात्माका मिलन अर्थ लगाते हैं। वे वास्तविकतासे दूर हट जाते हैं। परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवजीने सर्वलीला मुकुटमणि श्रीरासलीलाका वर्णन करते समय 'भगवान्ने रमणकी इच्छा की' यह कहकर केवल यही नहीं दिखाया कि यह लौकिक काम-क्रीडा नहीं है बल्कि और भी विशेषता दिखाई। इससे यह समझ लेना चाहिये कि यह लौकिक तो है ही नहीं इसमें और विशेषता भी है।

यहाँ एक दूसरी बात बताते हैं कि भगवान्ने रमणकी इच्छा की, रमणकी इच्छा करते ही क्या हुआ कि पूर्व गगनमें पूर्ण चन्द्रमाका उदय हो गया। वन-भूमिमें शरद्-ऋतुमें, वसन्त-ऋतुका समागम हो गया, नाना प्रकारके पुष्प खिल उठे जिससे वनभूमि सौरभित और आलोकित हो उठी, मृदुल-मृदुल मलय पवन बहने लगा। नाना-भावसे वृन्दावनके देश-काल आदि भगवान्की रमणकी इच्छाके अनुकूल मूर्ति धारण करके प्रकट हो गये। यहाँ पर भगवान्का परिपूर्ण ऐश्वर्य भी प्रकट है और फिर भगवान्ने प्रेमवती गोपरमणियोंको आमंत्रित किया, वेणुवादन करके और वह मुरली-ध्वनि चौससी कोस ब्रजमण्डलमें परिपूर्ण हो गयी। किन्तु सुना केवल उन प्रेमवती ब्रजगोपियोंने जिनको बुलाया था। इससे भगवान्की अचिन्त्य महाशक्तिका परिचय मिलता है। गोपरमणियोंके साथ भगवान्की रमणमयी रासलीला यह भक्त वात्सल्य और प्रेमाधीनतारूप अनन्य असाधारण यशकी ही अभिव्यक्ति करनेवाली है। सर्वसाधारण लोग इसको नहीं समझते। भागवत्में आया है कि जब शत्कोटि रमणियोंसे घिरे हुए भगवान् रासमण्डलमें अवतीर्ण हुए तब-- "जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम्" (श्रीमद्भा० १०। ३३। ५) तुम्बुरु आदि संगीताचार्य, देव, गन्धर्व गगन मार्गसे आकरके अपनी-अपनी पत्नियों सहित भगवान्के भक्त वात्सल्य और प्रेमाधीनतारूपगुणका, यशका गान करने लगे। इसके अतिरिक्त रासोल्लास तंत्र आदिमें भगवान्की रासक्रीडामें

भगवान्की उपासना पद्धतिका बड़ा उत्तमोत्तम श्रेष्ठ वर्णन है। इससे भी जाना जाता है कि यह जो भगवान्की लीला है वह यश—विस्तार करनेवाली है। यशको मिटानेवाली नहीं। भगवान्ने गोपरमणियोंके साथ जब रमणकी इच्छा की, जब वहाँपर रासभण्डलमें भगवान् पधारे उस समय शोभा और सम्पत्ति जिसे 'श्री' कहते हैं इसका जितना प्राकट्य हुआ उतना और कहीं नहीं हुआ। गोपरमणियोंके इस रमणके समय भगवान्के अंग—शोभाका वर्णन करते हैं कि—

‘त्रैलोक्यलक्ष्येकपदं वपुर्दधत्’ (श्रीमद्भा० १०। ३२। १४)

उर्ध्व, मध्य और अध तीनोंलोकोंमें जितना सौन्दर्य है वह सारा सौन्दर्य उस समय भगवान्के श्रीविग्रहमें प्रकट हो गया।

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।

मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। ७)

कहते हैं कि गोपीभण्डल मंडपमें भगवान्की जो आत्यन्तिक शोभा है उसका वर्णन नहीं हो सकता। तीनों जगत्में इसकी कहीं उपमा ही नहीं है। तथापि दिग्दर्शनके लिये यह कहा जा सकता है कि अगणित हेममणियोंसे जड़ित यह दिव्यातिदिव्य मरकत भणि है। इस लीलाकी सम्पत्ति—श्रीकी बात क्या कही जाय। जब भगवान् इस विहारमें प्रवृत्त हुये उस समय सभी छः ऋतुयें एक साथ आविर्भूत होकर लीलामयकी सेवामें लग गयीं। देवताओंने पुष्प वृष्टि आरम्भ कर दी। गन्धर्वोंने गीत—वाद्यादि आरम्भ कर दिया और तमाम जगत्में जहाँ—जहाँ पर इसका भान हुआ आनन्द छा गया। भगवान्के लिये इस विस्तारसे तो यमुना पुलिनपर अनन्य असाधारण शोभा फैल गयी। इस लीलामें भगवान्की सर्वज्ञता सर्वप्रकाशिता आदि ज्ञानशक्तियोंका भी अनुपम विकास देखा गया और इस लीलामें समस्त गोपियोंके हृदयोंका भाव भी भगवान्ने समझ लिया।

‘कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः’ (श्रीमद्भा० १०। ३३। २०)

जितनी गोपियाँ रासस्थलीमें थीं भगवान्ने अपनी उतनी मूर्तियाँ बना लीं। भगवान्की इस लीलामें उनकी सर्वज्ञताका आत्मप्रकाश हुआ। फिर भगवान्ने इस लीलामें वैराग्य—शक्तिका प्रकाश किया—

सिषेव आत्मन्यवच्छसौरतः (श्रीमद्भा० १०। ३३। २६)

इन श्लोकोंसे स्पष्ट हो जाता है कि शत्—शत् कोटि गोपिरमणियोंके साथ रमणमें प्रवृत्त होकर सूरत सम्बन्धी हाव—भावका प्रकाश किये बिना ही

भगवान् ने सबकी मनोवासना पूर्ण कर दी। इस लीलामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कितने भावोंसे कितने प्रकारसे अपने ऐश्वर्य वीर्यादि छः शक्तियोंका विकास करनेवाले बने—इसकी कोई सीमा नहीं। यहाँ केवल दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

भगवान् की अपार कृपासे इस परम मधुर—लीलापर विचार करनेपर यह बात मालूम हुई कि ऐश्वर्य वीर्यादि षडविध महाशक्ति सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण अपनी महाशक्तियोंका पूर्ण विकास करके ही रमणकी इच्छा करनेवाले बने। माने इन महाशक्तियोंका पूर्ण विकास करते हुए यह लीला की। इसलिये यह लौकिक लीला है ही नहीं ! है ही नहीं !! किन्तु इस आलोचनामें पूरी बात आयी नहीं। लौकिक विलास नहीं है यह बात ठीक है लेकिन भगवान् का रमण क्या है; यह बात नहीं आयी। भगवान् ने किसलिये इन छः महाशक्तियोंका पूर्ण विकास करके यह लीला की ? इस रमणका वास्तविक स्वरूप क्या है ? भगवान् आत्माराम हैं, पूर्णकाम हैं, आनन्दस्वरूप हैं तो किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये इन्होंने रमणकी इच्छा की ? प्रयोजन क्या था ? वे आत्माराम हैं आप्तकाम हैं। तो यह बिना समझे भगवान् के रमणकी इच्छाका पूरा अर्थ ध्यानमें नहीं आ सकता। इसपर विचार करते हैं। यह रमण शब्द जो है यह क्रीडा वाचक रम धातुसे निष्पन्न है और इस शब्दके सुनने मात्रसे ही जो बिना विचारके अर्थ करते हैं, वे केवल स्त्री विलास अर्थ ही इसका समझते हैं। तो रमण शब्दका यह अर्थ नहीं होता सो बात नहीं। पद्मपुराणमें आया है भगवान् रामके नामका अर्थ करते समय—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।

इति रामपदे नासौ परं ब्रह्माभिधीयते ।।

योगीगण जिस अपरिच्छिन्न सच्चिदानन्दमय तत्त्वमें रमण करते हैं; राम शब्द उस परब्रह्म भगवान् का सूचक है। तो योगियोंके सच्चिदानन्दधनमें रमणको कोई कामक्रीडा कह सकता है क्या ? यह बन नहीं सकता फिर यहाँ रासलीलामें 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' (श्रीमद्भा० १०। २६। ४२) भगवान् ने आत्माराम होकर रमण किया यह उक्ति है। भागवतमें श्रीशुकदेवजी आदिके लिये आता है कि आत्माराम हैं। अब शुकदेवादिके आत्माराम शब्दको कोई यह कहे कि इसका अर्थ यहाँ काम—क्रीडा है—शुकदेवादिके लिये तो यह चीज कभी बनती नहीं। आत्मामें रमण करते हैं, इसका अर्थ जो काम—क्रीडा करते हैं सो नहीं होता है। यह सब लोग जानते हैं।

अतएव भगवान् ने रमणकी इच्छा की—इसपर विचार करनेकी

आवश्यकता है। 'आत्मारामोऽप्यरीरमत् (श्रीमद्भा० १०। २६। ४२) 'आत्मारामाश्च मुनयः' (श्रीमद्भा० १। ७। १०) रामः इत्यादिमें रमण शब्द है। इन सारे शब्दोंपर विचार करनेपर मालूम होता है कि रमण शब्दका अर्थ कामक्रीडामें भी व्यवहार होता है और आत्मारामादि पदोंमें जहाँ आता है वहाँ काम-क्रीडा बिल्कुल नहीं है। रमणका हम यह अर्थ कर लें —आनन्दास्वादन। यह अर्थ कर लें तो ठीक बैठ जाता है। भोगजनित आनन्दास्वादन—कामक्रीडा यह विषयासक्त जीवोंका रमण और आत्मस्वरूपानन्दास्वादन यह आत्मारामका और विषय सम्बन्धविहीन मुक्त जीवोंका रमण—आनन्दास्वादन। इसलिये यह कह देते हैं कि भगवान्ने रमणकी इच्छा की। आत्माराम लोगोंने आत्मामें रमणकी इच्छा की। यह चीज बन जाती है तो आनन्दास्वादन अर्थ करना चाहिये। परन्तु यह भी भगवान्के रमणकी इच्छाके लिये ठीक अर्थ नहीं है। बहिर्दृष्टिपरायण जो जीव हैं वे विषयोंके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर आनन्दका आस्वादन करते हैं। इसलिये उनको इन्द्रियाराम कहा, विषयाराम कहा। किन्तु एक बात समझनेकी है कि विषयोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेपर आनन्दकी अनुभूति क्यों होती है? बड़ा शास्त्रीय विषय है। तैत्तिरीय उपनिषदमें आया—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (३। ६। १)

आनन्द वस्तुको ब्रह्म जानना चाहिये अर्थात्, ब्रह्म आनन्द स्वरूप है तथा 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (२। ७। २)

इस तैत्तिरीय उपनिषदके मंत्र द्वारा यह आता है कि यदि आकाशवत् अपरिमित आनन्द न होता तो जगत्के जीव किस वस्तुको लेकर जीवन धारण करते। अतः यह एक बात देखी जाती है कि सर्वव्यापी परमानन्दस्वरूप ब्रह्म रूप रसादि समस्त विषयोंमें अवस्थित हैं और बहिर्मुखी लोग जो हैं वे मूल ब्रह्म वस्तुको न देखकर रूप रसादि विषयोंमें भावना करके स्वरूपानन्दको भूलकर विषयानन्दमें रम जाते हैं। इसलिये वो वहीं आनन्द मानते हैं, ब्रह्मका नहीं विषयोंका। वहाँ बात भी क्या है जैसे शहदका—मधुका भरा हुआ कोई पात्र हो और उसमेंसे झरकर मधु घूलमें गिरे और उस मधुकणके साथ उसका आस्वादन करे तो घूल साथ आ जाय। घूल भी चाटने लगे मधुके साथ तो मिश्रता तो है मधुकी पर यह घूल चाटते हैं। यह प्रश्न इसलिये उठा कि भगवान् आनन्दमय हैं। भगवान्का ही आनन्द विषयोंमें आता है। भगवान्का आनन्द ही जगत्में सब जगह फैला है। फिर यह जो विषयोंमें आनन्द भगवान्

देते हैं यह क्या कोई दूसरा आनन्द है या और कहींसे उधार लेकर देते हैं। एक और उदाहरण देते हैं जैसे--गधा जो होता है उसकी प्यास मिटानेके लिये स्वच्छ सरोवरका ही स्वच्छ जल दिया जाता है। गधा क्या करता है कि अपने स्वभाववश उसमें कीचड़ मिलाकर पीता है। तो वह गधेका कीचड़ मिलाया हुआ पानी देखकर कोई यह कहे कि गधेको स्वच्छ सरोवरका पानी न देकर कहीं औरसे लाकर दिया गया यह बात ठीक नहीं। यह भ्रांत धारणा है।

इसी प्रकार जगत्के जीवोंको जो दुःख मिश्रित आनन्द मिलता है यह उनकी अपनी भूलके कारणसे ही मिलता है परन्तु जो आनन्द है वह परब्रह्मके स्वरूपानन्दसे पृथक् वस्तु नहीं; आनन्द एक ही चीज है। जीवगण अनादिजन्मसंचित बहिर्मुखताके वशमें होकर इस परमानन्दको ही विषयमिश्रित करके भोग बना लेते हैं तो वह दुःखयुक्त हो जाता है। 'एष होवानन्दयाति' इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादित जो भगवान् परब्रह्म हैं उन्हींका आनन्द सर्वत्र है।

इस प्रकारसे विज्ञानादि, ब्रह्मा, श्रुति प्रतिपादित परब्रह्म विज्ञान स्वरूप होकर भी आनन्दस्वरूप होकर भी आनन्ददाता है। 'रस होवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तैत्ति० उप० २।७।२) इत्यादि श्रुति वाक्योंसे जाना जाता है कि जीव यदि रसस्वरूप परब्रह्मके स्वरूपानन्दको ग्रहण कर लें तो आनन्दी हो जाते हैं अर्थात् आनन्दका आस्वादन कर सकते हैं।

अतएव परब्रह्मका स्वरूपानन्द ग्रहण ही जीवोंका आनन्दास्वादन है। इस तरहसे रासलीला स्वरूपानन्द वितरण है। परब्रह्मका आनन्द—स्वादन है। माने आत्माराम मुनियोंका जो आनन्दास्वादन है वह तो है इसलिये कि उनको उस आनन्दकी इच्छा है। लेकिन भगवान् जो हैं ये तो नित्य आनन्दमय हैं। भगवान्में आनन्दकी इच्छा नहीं घट सकती। जो सारे आनन्दके मूल केन्द्र हैं, जिनके रसस्वरूपको ग्रहण करके ही सब आनन्दकी उपलब्धि कर सकते हैं, जिनका आनन्द ही जीव-जगत्को आनन्द दान देता है वो सर्वविध आनन्दके मूल केन्द्र हैं। जगत्के जीव जिनको पानेके लिये व्यग्र हैं। वह समस्त आनन्दोंके मूलकेन्द्र—स्वरूप भगवान् किसी प्रयोजनसे आनन्दभोग करनेकी इच्छा करे, यह नहीं हो सकता। आत्माराम मुनियोंका जो आत्माराम रसास्वादन है—आनन्दास्वादन यह भी इनमें नहीं है। तो क्या है? स्वरूपानन्दको प्राप्त करके जैसे आत्माराम मुनिगण आनन्दका रसास्वादन करते हैं तो यह स्वरूपानन्दका प्राप्त करना क्या है? इनका स्वरूपानन्द वितरण है। भगवान् जो स्वरूपानन्दका वितरण करते हैं यही यहाँपर भगवान्का रमण है।

यहाँ फिर शंका उठी कि भई ! परब्रह्म जो है निर्विशेष है। परमानन्द स्वरूप है—इनमें प्रयोजन बुद्धि क्यों आयी। आनन्द—वितरण करनेकी बात भी एक प्रयोजन है। शास्त्र सम्मत है यह। बात ठीक है—निर्विशेष निष्प्रयोजन प्रवृत्तिहीन परब्रह्ममें भी। शास्त्र श्रुतियाँ कहती है कि उनमें भी प्रवृत्ति होती है। कैसे ? तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति (छान्दोग्य ६। २। ३) आदि श्रुति वाक्योंसे यह जाना जाता है कि सृष्टिके पूर्व त्रिगुणमयी प्रवृत्तिको उन्होंने वीक्षण किया और अपनेको बहुतसे रूपोंमें प्रकाशित किया। यह प्रवृत्ति हुई न। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् (तैत्ति०उप० २। ६। ४) श्रुतिवाक्योंसे जाना जाता है कि यह सर्वकार्यकारण ब्रह्म ही परिदृश्यमान सारे संसारकी सृष्टि करते हैं और अन्तर्यामी रूपमें उसमें प्रवेश करते हैं। तो अवश्य ही इनकी प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति है तो कोई प्रयोजन है। यह दूसरी बात है कि इनका प्रयोजन तुच्छ नहीं है। उनका प्रयोजन कोई सहेतुक नहीं है पर प्रयोजन अवश्य है। यह प्रयोजन क्या है ?

यहाँ एक सूत्र है वेदान्त दर्शनका 'न प्रयोजनवत्त्वात्' (२। १। ३२) शास्त्रार्थ है। यह थोड़ा कठिन विषय है। इसका अर्थ भाष्यकार करते हैं। इस सूत्रके भाष्यमें शंकराचार्य लिखते हैं—जगत्में देखा जाता है कि चेतन और बुद्धिपूर्वक काम करनेवाला कोई भी आदमी सामान्य कार्यमें भी यदि रत होता है तो उसकी अपने प्रयोजनके अनुरूप प्रवृत्ति होती है और बड़े काममें हस्तक्षेप जब करना होता है तब विशेष रूपसे आत्म-प्रवर्तन—उसके अनुसार प्रवृत्ति होती है। यह कहना पड़ता है। तब भगवान्ने इस विशाल ब्रह्माण्ड और उसमें छोटे-बड़े असंख्य जीव और उनके अच्छे-बुरे भोग्य पदार्थ इनकी सृष्टि की। गुरुतर कार्य भगवान्का है। तो जगत्की सृष्टिकी प्रवृत्तिमें क्या भगवान्का कोई प्रयोजन नहीं। यदि कोई प्रयोजन नहीं तो सृष्टिकी रचना की क्यों ? और प्रयोजन यदि माना जाय तो भगवान् नित्य-चैतन्य, नित्य-निरंजन हैं यह वाक्य ठीक नहीं बैठता। और कोई अगर यह सोचता है कि यह उन्मत्तका काम है; पागलने ऐसा काम कर दिया किसी प्रयोजनके न होनेपर भी उन्मत्तकी भाँति—यह बात भी नहीं ठीक है। क्यों ? 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' (मुण्डकोपनिषद् २। २। ७) भगवान् उन्मत्त हैं नहीं, सर्वज्ञ हैं, उनको कोई प्रयोजन है नहीं। तो क्या बात है ? शंकराचार्यजीकी समालोचनासे मालूम होता है कि भगवान्के कार्यमें कोई न कोई प्रयोजन तो है परन्तु वह प्रयोजन है क्या, यह जगनना है बड़ा कठिन; क्योंकि आप्तकाममें प्रयोजन हो नहीं

सकता और प्रयोजनके बिना प्रवृत्ति होती नहीं। यह शास्त्रार्थकी चीज है। प्रयोजन तो आप्तकाममें सम्भव नहीं और प्रयोजनके बिना प्रवृत्ति सम्भव नहीं। तो क्या बात है ?

वेदान्त दर्शनके द्वितीय अध्यायके प्रथम पादमें 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (२। १। ३३) इस सूत्रकी व्याख्यामें भगवान् शंकराचार्यने, रामानुजाचार्यने, मध्वाचार्यने सभीने अपना-अपना मत प्रकट किया। उसमें शंकराचार्यका यह मत है 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' में कि कोई राजा या उच्च पदस्थ राज्याधिकारी कोई प्रयोजन न होनेपर भी क्रीडा-विहारादि करते हैं, खेल करते हैं बाह्य प्रयोजन न दीखनेपर भी और स्वभावतः ही सबके श्वासपर श्वास आता है। इसी प्रकार भगवान्में भी कोई प्रयोजन न होनेपर भी स्वभावतः ही लीलासे जगत्की सृष्टि वे किया करते हैं। तो उसमें यदि कोई यह समझे कि उनके मनमें क्रीडादिका प्रयोजन तो है ही। सुखापेक्षा है। तो कहते हैं कि भगवान् अनन्त लीलामय हैं। उनमें कोई आत्मसुख या सुखापेक्षा हो नहीं सकती। वे आप्तकाम हैं तो प्रयोजन न होनेपर भी वे उन्मत्त नहीं हैं, खेल करते हैं। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' और 'स इमौल्लोकान् सृजत' (ऐतरेयापनिषद् १। १। २) यह सर्वज्ञ, सर्वविद है। इससे यह जाना जाता है कि वे सर्वज्ञ होते हुए भी प्राकृत-अप्राकृत सब वस्तुओंके ज्ञाता होते हुए भी उनका कार्य उन्मत्तका कार्य नहीं है। यह लीला है। इसी प्रकार इन्होंने लीला बताया। किसीने इसको मत्तका नृत्य बताया। किसीने उन्मत्तता बताया। किसीने और कोई चीज बतायी। महाराजाओंकी क्रीडा बतायी। इस प्रकार अलग-अलग लोगोंने अपनी-अपनी विचारधाराके प्रकट किया। तो बोले भई ! यह क्या बात है ? तब कहा—भगवान्के लिये कोई उदाहरण मिलता ही नहीं। और जितने भी उदाहरण होते हैं, दृष्टान्त होते हैं—ये एकमुखी या एकपक्षीय होते हैं। चाँदके समान मुँह है का अर्थ यह नहीं कि चन्द्रमा ही उसके मुँहपर आ गया है।

इसी प्रकारसे जितने भी दृष्टान्त या उदाहरण होते हैं ये सर्वतोमुखी नहीं होते। भगवान्में दृष्टान्त घटता ही नहीं। भगवान्में दोनों बातें आती हैं कि जन्मरहित होते हुए भी जन्म लेते हैं—

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (गीता ४। ६)

और—

न तेऽभवस्मेश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे ।

(श्रीमद्भा० १०। २। ३६)

हे भगवन् ! आप स्वभावतः जन्म रहित होनेपर भी युग-युगमें जन्म लेते हैं। यह लीलाके सिवाय और कुछ नहीं है। यह भगवान्की लीला है।

भगवान्ने रमण करनेकी इच्छा की रासपञ्चाध्यायीके इस प्रथम श्लोकपर विचार करनेपर भगवान्का रमण क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? इस सम्बन्धमें यह बात हुई कि भगवान्का उद्देश्य है—स्वरूपानन्दका वितरण। यह रमण है, यह रसास्वादन भगवान्का अपने स्वरूपका लोगोंमें वितरण करना। अपने स्वरूपानन्दको बाँटना। तो रमण के तीन अर्थ हुए—सांसारिक विलासादि—यह विषयासक्तोंका रमण और आत्मारामात्—आत्मामें रमण, यह मुमुक्षु महात्मा पुरुषोंका रमण तथा अपने स्वरूपके आनन्दका वितरण करना—यह भगवान्का रमण। इसलिये भगवान्ने रमण किया। यह न लौकिक काम है और न आत्मारामोंका रमण है। यह भगवान्का रमण है।

(४)

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।

तीन दिनतक इस श्लोकपर पहले बातचीत हो चुकी है। पहली बात है कि श्लोकका जो पहला शब्द है 'भगवान्'—उसपर संक्षेपमें जो बात हुई थी उसको समझ लें। यह भगवान्का रमण है। भगवान् कौन ? जो छः प्रकारके महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न। उनमें अनन्त ज्ञान है, अनन्त वैराग्य है, अनन्त ऐश्वर्य है, अनन्त श्री है, अनन्त वीर्य है, अनन्त कीर्ति है, अनन्त यश है। इस प्रकारके भगवान् जिनको किसी चीजकी इच्छा नहीं और अगर इच्छा हो तो इन चीजोंको अपने-आप प्रकट कर लें, बना लें। दूसरेके द्वारा उनको सुख प्राप्त करनेकी न इच्छा है और न आवश्यकता। उसकी व्याख्या हुई कि वे छः ऐश्वर्य कौनसे हैं, कितने हैं, कैसे हैं ?

दूसरा शब्द है रमण। रमणका अर्थ किया गया आनन्दास्वादन—आनन्दका आस्वादन। आनन्दास्वादनके तीन भेद किये गये—विषयी लोगोंका आनन्दस्वादन, आत्माराम मुनियोंका आनन्दास्वादन और भगवान्का आनन्दास्वादन। इसमें जो आनन्दांश है यह तीनोंमें ही भगवान्का है। क्योंकि आनन्द भगवान्में ही है और कहीं आनन्द है ही नहीं। लेकिन विषयरसमें जो आनन्द है वह आनन्द भी भगवान्का है पर विषयासक्त

लोग क्या करते हैं कि जैसे कोई आदमी थोड़ी—सी मिश्रीके साथ बहुत—सा नीम चूर्ण मिला ले। रसके साथ कोई गन्दी चीज मिला ले। इस प्रकार विषयासक्त पुरुषोंका जो रसास्वादन है—विषयास्वादन यह भगवान्में हो नहीं सकता। दूसरी चीज है मुमुक्षु लोगोंका, ज्ञानियोंका जिनका अन्तःकरण पश्म विशुद्ध है, उन महात्माओंका आनन्दास्वादन। वह आनन्दास्वादन है आत्मरमण। यहाँ रमणमें पहला जो है वह विषयसेवनरूपी रमण है—आनन्दास्वादन और ज्ञानियोंका है आत्मरमण—आत्मामें ही नित्य रमते हैं। यह इनका रमण है। भगवान् जो हैं वह आनन्दके सागर हैं, आनन्दकी निधि हैं, आनन्दके उद्गम स्थान हैं। इसलिये आत्माराम लोगोंको जो सुख है आत्मरमणका उसकी इनको आवश्यकता नहीं—वह इनका स्वरूप ही है। विषयानन्द इनके पास आ ही नहीं सकता। इनका आनन्दास्वादन है—स्वरूपानन्द वितरण—अपने स्वरूपके आनन्दको लोगोंमें बाँटना।

विषयास्वादन विषयी लोगोंका, भोगी लोगोंका संसारमें आसक्त, गड्ढेमें पड़े लोग हैं इनका आनन्दास्वादन है। आत्मरमण शान्त हृदय मुनियोंका आनन्दास्वादन है। यह विशुद्ध ज्ञानमार्गमें जो महात्मा पुरुष हैं उनका है और प्रेमियोंका है। यह आनन्दास्वादन कैसा है ? भगवान्का आनन्दका वितरण ही आनन्दास्वादन है। भगवान् अपने प्रेमियोंके योग्य बनते हैं। कोई उनको माता मानकरके माताका सुख भोगता है, पिता मानकरके कोई पिताका सुख भोगता है। कोई उनको मालिक मानकर मालिकका सुख भोगता है। कोई मित्र मानकर मित्रका सुख भागता है। इस प्रकारसे भगवान् अपने आनन्दका वितरण करते हुए अपने प्रेमियोंके आनन्दमें आनन्दका रस लेते हैं। यह प्रेम वितरणके द्वारा आनन्दका आस्वादन करना ही भगवान्का रमण है। इस भगवान्के रमणके अधिकारी कौन हैं ? इसके अधिकारी श्रीगोपीजन हैं। यहाँ तककी संक्षेपमें बात हो चुकी है।

अब कहते हैं कि इसीका नाम शुद्ध भक्ति है और इसीका नाम निर्गुणा भक्ति है। जैसे गंगाकी धारा निरन्तर समुद्रकी ओर सारी विघ्न बाधाओंको हटाती हुई चली जा रही है; इसी प्रकार जिसके मनकी गति अविच्छिन्न भावसे निरन्तर भगवान्की ओर बहती रहे उसका नाम निर्गुणा भक्ति है।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

(श्रीमद्मा० ३। २६। १२)

तो ऐसे भक्तोंकी क्या चाह होती है ?

सालोक्यसार्धिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भा० ३। २६। १३)

भगवान् कहते हैं कि मेरी सेवाको छोड़कर ऐसे भक्त जो हैं वे पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ दी जानेपर भी स्वीकार नहीं करते। ये हैं प्रेमी भक्त। इसका यह अर्थ मानना चाहिये कि वह अमुक्त नहीं है। सेवासे अलग रहकर वे किसी और मुक्तिको नहीं चाहते। लेकिन वे जगत्के बन्धनमें हैं, सो बात नहीं। जगत्का, विषयोंका, ममताका, आसक्तिका कोई बन्धन उनके जीवनमें रह गया है, ऐसा नहीं। वे समस्त बन्धनोंसे सर्वथा विमुक्त हैं। तभी वह भगवान्के प्रेमी हैं। तो कहते हैं कि भगवान्की अपार कृपासे जब कभी किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यवश जिनको यह शुद्ध भक्तिकी प्राप्ति होती है वे ही अपनी सारी ममता भगवान्को समर्पित कर सकते हैं। नहीं तो कहीं—न—कहीं, किररी—न—किसी चीजमें ममता रख लेते हैं। शुद्ध भक्तिकी जो परिणिता अवस्था है, उसका नाम है प्रेम। ऐसे साधक जो शुद्ध भक्तिके परिणिता अवस्थामें पहुँचे हुये हैं वे अपनी—अपनी भावनानुसार भगवत् सेवा पाकरके कृतार्थ होते हैं। चैतन्य महाप्रभुके ये उद्गार हैं—

शुद्धभक्ति हैते हय प्रेमेर उत्पन्न ।

अतएव शुद्ध भक्तिर कहिये लक्षण ॥

(चैतन्य चरितामृत २। १६। १४७)

शुद्ध भक्तिसे ही विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है। इसलिये शुद्ध भक्तिके लक्षण संक्षेपमें जान लेने चाहिये।

अन्यवांक्षा अन्यधूजा छाड़ि ज्ञानकर्म ।

आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥

एइ शुद्धभक्ति, इहा हैते प्रेम हय ।

(चै० च० २। १६। १४८--१४९)

चैतन्यने शुद्ध भक्तिका लक्षण बताया। शुद्ध भक्ति जो है ये प्रेमको उत्पन्न करती है और प्रेमसे उत्पन्न है। शुद्ध भक्तिका लक्षण बहुत संक्षेपमें और बहुत सार रूपमें यह है कि दूसरी आकांक्षा—प्रेमके अतिरिक्त होती नहीं और कोई आकांक्षा अर्थात् प्रेमास्पदको प्राप्त करनेकी आकांक्षा भी नहीं। प्रेमास्पदको प्राप्त करना बड़ा प्रिय और उसमें बड़ा सुख परन्तु प्रेमास्पदके सुखकी वांछा

है। प्रेमास्पदको प्राप्त करनेकी वांछा नहीं। इसीका नाम प्रेम है। प्रेमास्पद यदि प्राप्त नहीं होना चाहते, नहीं मिलना चाहते तो प्रेम कहेगा कि प्रेमास्पदके मिलनेकी इच्छा छोड़ दो। अन्य वांछा—प्रेमके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारकी वांछाका परित्याग करे और अन्य पूजाका परित्याग—प्रेमके सिवाय अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, वस्तु, भावना, कल्पना, किसीकी भी पूजा न करे। प्रेमका पुजारी जो भी कोई हो—प्रेमकी वांछा, प्रेमका पूजक और ज्ञानकर्मसे विलग हो, उनका परित्याग करे। अन्य वांछाका परित्याग, अन्य पूजाका परित्याग और ज्ञानकर्मका परित्याग हो। तो क्या करे? 'आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन' श्रीकृष्णकी अनुकूलताकी दृष्टिसे—जो उनको अनुकूल लगे इस प्रकारकी सेवा सर्वेन्द्रियके द्वारा करे। मन—बुद्धि यह सब सर्वेन्द्रियमें ही है। सर्वेन्द्रियके द्वारा श्रीकृष्णकी सेवा करें उनकी अनुकूलताके अनुसार—अपनी अनुकूलताके अनुसार नहीं। इसका नाम शुद्ध भक्ति है। इससे प्रेमका उदय होता है। इसके पहले नारद पाञ्चरात्रका एक वाक्य उद्धृत किया गया—

'अनन्य ममता विष्णो ममता प्रेमसंगता' इससे यह सिद्ध हुआ कि स्त्री-पुत्र वित्तादिमें ममता रहित होकर श्रीकृष्णनिष्ठ ममता ही प्रेमनामसे अभिहित है। अर्थात् संसारके लोक-परलोककी किसी वस्तुमें ममता न रहे और ममता रहे केवल कृष्णनिष्ठ होकर। इस प्रकारकी कृष्णनिष्ठ ममताका ही नाम प्रेम है। यह भगवान्के लीला गुणादिको सुन-सुनकर अपने आप प्राप्त होती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाय तो उसका नाम निर्गुण भक्ति है। इसका नाम शुद्ध भक्ति है। यह निर्गुण भक्ति है—इसमें किसी गुणकी दृष्टि नहीं है। प्रेमके लिये कहा है—'गुणरहितं कामनारहितं अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपं प्रतिक्षण वर्धमानम्' (नारद भक्तिसूत्र—५४) यह छः प्रेमके लक्षण कहे हैं।

उसमें सबसे पहला लक्षण है 'गुणरहित'। प्रेमास्पदके गुणजनित प्रेमका अभाव और सांसारिक—तीन प्रकारके गुणोंमेंसे किसी गुणको लेकर होनेवाली भक्ति यह नहीं है। उसमें क्या होगा कि भगवान्की पूर्ण ममताकी प्राप्ति होगी और तभी प्रेमके रसकी उत्पत्ति होगी। भक्तिके तीन प्रकार माने हैं, वैसे तो उनके अनेक भेद हैं—१-साधनभक्ति, २-सिद्धा भक्ति, ३-शुद्ध भक्ति। जिन आचरणोंके द्वारा भक्तिकी प्राप्ति हो वह साधन-भक्ति, जिन भक्ति साधनोंके द्वारा भगवान्की भक्तिमें निष्ठा हो जाय उसका नाम सिद्ध भक्ति और जो भक्ति

केवल प्रेममूलक हो रागात्मिका या रागानुगा हो उसका नाम शुद्ध भक्ति ।

इसलिये साधन भक्तिसे जब रतिका उदय होता है, तब तो सिद्ध भक्ति होती है और रति जब प्रगाढ़ होती है उसका नाम प्रेम होता है और वही शुद्ध भक्ति है ।

साधन—भक्ति हैते रतिर उदय ।

रति गाढ़ हैले तार प्रेम नाम कह ॥ (चै० च० २। १६। १५१)

साधन भक्तिके द्वारा रतिकी उत्पत्ति होती है और रतिके प्रगाढ़ होनेपर उसका नाम प्रेम होता है । तो दूसरी वांछा, दूसरी पूजा, ज्ञान, कर्म इत्यादिका परित्याग करके केवल भगवान्की प्रीतिके लिये कीर्तनादि भक्त्यांग साधनोंके द्वारा स्त्री-पुत्र-परिजन, धन, यश, कीर्ति, लोक-परलोक, विषय-वैभव इत्यादिमें रहनेवाली ममताको सर्वथा छोड़कर भगवान्में पूर्ण ममता प्राप्त करनेकी इच्छा और चेष्टा हो । इस प्रकार करते-करते जब अन्य निरपेक्ष कृष्णनिष्ठ ममता हो जाय अर्थात् अन्य कहींपर तो ममता रहे नहीं और सारी ममता श्रीकृष्णमें ही जाकर केन्द्रित हो जाय, इसका नाम प्रेम, इसका नाम शुद्ध भक्ति । लेकिन शुद्ध भक्तिके भी भेद होते हैं । शुद्ध भक्तिमें भी ममताके तारतम्यको लेकर, ममताके विशेषत्वको लेकर, यह एक ही प्रेम विभिन्न भक्तोंके हृदयोंमें विभिन्न मूर्ति धारण करके विभिन्न नाम और भावोंसे युक्त होकर विहरित होते हैं ।

भक्तिभेदे रतिभेद—पञ्च परकार ।

शान्तरति दास्यरति सख्यरति आर ॥

वात्सल्य रति, मधुर रति ये पंच विभेद ।

रतिभेदे कृष्ण-भक्ति रस पंचभेद ॥

शान्त-दास्य, सख्य-वात्सल्य, मधुस्स नाम ।

कृष्णभक्ति-रसमध्ये ये पंच प्रधान ॥

(चै० च० २। १६। १५७-१५६)

भक्तके मानस भावोंके भेदके अनुसार भक्तिके पाँच प्रकार होते हैं—शान्तरति, दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुररति । इन्हींका नाम पाँच रस भी है—शान्त रस, दास्य रस, सख्य रस, वात्सल्य रस और मधुर रस । कृष्ण भक्तिमें इन पाँच रसोंकी प्रधानता है । रस तो अनेक हैं । रस शास्त्रमें एक जगह २८ रस माने हैं, एक जगह १६ रस माने हैं, एक जगह ११ माने, एक जगह ६ माने, एक जगह ६ माने, एक जगह ५ भेद माने हैं । यह रसोंके भेद

हैं। यह रस शास्त्रका अलग विषय है। यहाँ इसकी आवश्यकता नहीं।

यह पाँच प्रकारकी रतियोंको संक्षेपमें समझ लेना आवश्यक है। स्त्री—पुत्र, धन—दौलत, मान, कीर्ति—यश, शरीर इनमेंसे ममता रहित न होने पर इनमेंसे कोई भक्ति नहीं मिलती। इनकी ममताको तो छोड़ना पाँचों प्रकारकी भक्तियोंमें आवश्यक है। जब यह सारगारिक तमाम वस्तुओंसे ममताशून्य होकर पूर्ण कृष्ण—निष्ठामें होकर अपने इस नाम—रूपको खो देता है आदमी—'आत्महरा होई तो जाने' आत्महरा अर्थात् अपनेको खो देनेवाला। अपनेको खो देनेवाला जब बन जाता है तभी लौकिक ममतारहित कृष्ण—निष्ठा होती है। उसका नाम शान्ति रति है। इन्द्रियोंका दमन, मनका दमन, दुराचार—सदाचारका सर्वथा परित्याग, वैराग्यका उदय और भगवान्में निष्ठा यह हो जाते हैं तो इसका नाम शान्ति रति है।

यहाँ कुछ दूसरी बात—टीकाकारोंका अपना—अपना बड़ा सुन्दर भाव है। वह कहते हैं कि ज्ञानयोगकी साधनामें जब ब्रह्मभावकी अनुभूति होने लगती है तब भी स्त्री—पुत्र, वित्तादिमें ममता नहीं रहती है और उनको भी शान्त भाव प्राप्त रहता है। उनके भी चित्तकी अशान्ति दूर हो जाती है परन्तु उसमें और इसमें भेद यह है कि वे सर्वमूलस्वरूप परब्रह्ममें अपने क्षुद्र अहम् भावको समर्पण करके ब्रह्मभूत होकर निर्विशेष आनन्द सागरमें डूब जाते हैं। परन्तु उनका जो शान्त रस है बड़ा ऊँचा यह कृष्ण भक्तकी भाँति कृष्णनिष्ठाजनित आनन्द देनेवाला नहीं बनता है। आनन्दमें डूब जाते हैं आनन्द भोगते नहीं हैं। कहते हैं कि ब्रह्मभूत और शान्त भक्त इन दोनोंके तारतम्यका विचार करनेपर यह अनुमान होता है कि ब्रह्मभूत ब्रह्मानन्दस्वरूपताको प्राप्त करके आनन्दसिन्धुमें विलीन हो जाते हैं। शान्त रतिके भक्त कृष्णनिष्ठताको अवलम्बन करके आनन्द—समुद्रमें सुखसे तैरते रहते हैं। इन्होंने भेद किया कि वो तो आनन्द समुद्रमें डूबकर विलीन हो जाते हैं और ये आनन्दसमुद्रमें सुखपूर्वक तैरते रहते हैं। 'ब्रह्मविद ब्रह्मणैव भवति' और 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तैत्ति०उप० २। ७। २)

इन दोनों श्रुति वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है कि जो ब्रह्मरूप सर्वात्मक सच्चिदानन्दरूप परतत्त्वका आस्वादन करते हैं वे सर्वात्मक परब्रह्म वस्तुमें आत्मस्वरूपके द्वैतको डुबोकर सर्वात्मक वस्तुके स्वरूपान्तर्गत अपनेको खो देते हैं। उनका अपना अलग अस्तित्व नहीं रह जाता। लेकिन जो सर्वात्मक वस्तुको रस—रूपसे, प्रियतम रूपसे, आस्वाद्य रूपसे मेरा है इस

ममत्वके भावसे ग्रहण कर सकते हैं वे सर्वात्मक सर्वप्रिय और सर्वविध ममतास्पर्द वस्तुके मूलस्वरूप सच्चिदानन्दका आस्वाद पाकर परमानन्दमें अपने आपको भिलाये रहते हैं। ये आस्वाद्य पाते हैं और वो डूब जाते हैं। यह भेद है। इसलिये यह देखा जाता है कि ब्रह्मभूत और शान्त भक्तमें यह अन्तर है कि वो ब्रह्मानन्दके स्वरूप हैं और ये ब्रह्मानन्दके भोक्ता हैं। वहाँ ब्रह्म मिल गया और यहाँ ब्रह्म इनका भोग हो गया। शान्त भक्तगणोंमें बस ! केवल कृष्ण-निष्ठाजनित आनन्दका ही भोग होता है और कोई संसारके भोगकी बात नहीं रहती है। लेकिन कृष्ण-निष्ठाजनित आनन्दका भोग होता है। कृष्ण सेवानन्दका आस्वादन यहाँ भी नहीं होता।

अब शान्त रसोंकी बात—शान्तरसमें थोड़ी देरके लिये सर्वात्मक स्वरूपमें डूब जानेकी बात छोड़ दीजिये। शान्त रसमें कृष्ण-निष्ठाजनित आनन्दका भोग होता है। सेवानन्दका नहीं होता। सेवानन्दमें कुछ इस प्रकारकी स्थिति होनी चाहिये कि जहाँ सेवकको सेव्य अपना सेवक मान ले। शान्त रसमें निष्ठा श्रीकृष्णमें है। पर श्रीकृष्णने उनको सेवक नियुक्त नहीं किया है।

अब दास्य रति आयी। जैसे एक कोई महाराजा है किसी देशका और वह अपनी सारी प्रजापर बहुत अधिक ममत्व रखता है और प्रजाजन भी उसको अपना उत्तमसे उत्तम श्रेष्ठ पूज्य मानते हैं और उसकी सेवा करते हैं पर प्रत्यक्ष सेवा नहीं मानते हैं। प्रजाकी भौंति सार्वजनिक सेवा मानते हैं। राजा भी उनको अपना मानता है और वे भी। उनको अपना माननेके नाते उनका अपनापन है। परन्तु उसमें कोई खास नजदीककी बात नहीं है। वह अनुकूल ही चलते हैं और वह उनपर कृपा भी करता है परन्तु यह नहीं कि उनसे कह दे कि एक गिलास पानी ले आओ। आज रात हमारे पलंगके पास बैठकर हवा करो। हमारी धोती धो दो। यह बात प्रजासे राजा नहीं कहता है। लेकिन राजाने किसीको महलमें नौकर रख लिया तो नौकर जिसको रखा वह आया प्रजामेंसे ही, तो प्रजाका जो भाव था वह भाव तो उसमें है ही। दूसरा नजदीकका भाव और हो गया कि वह खास सेवक भी हो गया। खास सेवक होनेसे वह कुछ और नजदीक आ गया तो उसमें सेवानन्दका आस्वादन आरम्भ हो गया।

एक तो ममताका आनन्द और एक ममतास्पर्द वस्तुमें भोगका आनन्द—इन दोनोंमें जरा भेद होता है। ऐसा देखा जाता है कि किसी आदमीको कोई धन-सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, कोई पदार्थ प्राप्त हो जाय तो उसमें उसकी मेरेपनकी बुद्धि हो जाती है। यह मेरा है। इतना आनन्द तो उसे

मिल गया। कोई भूखा आदमी था और उसको मिठाईकी थाली मिल गयी। यह आनन्द तो हो गया पर जब वह उसको खायेगा तब विशेष आनन्द और आयेगा। एक ममतास्पद वस्तुका आनन्द है और दूसरा ममतास्पद वस्तुके भोगका आनन्द है। शान्तरसमें ममतास्पद वस्तुका आनन्द है और दास्य रतिमें ममतारसद वस्तुके भोगका आनन्द आरम्भ हो जाता है। दास जो है वह फिर हमेशा पास रहता है। यह नहीं कि प्रजाकी तरह अपना समयपर आवे और समयपर जाय। दास जो है उसकी नियुक्ति होती है खास कामके लिये। सेवकके अलग-अलग काम होते हैं। कोई सेवक बड़ा विश्वस्त होता है कि गुप्तकाम, खासकाम राजा उसीसे लिया करता है। सेवकका तारतम्य है। एक बात सेवकमें होनी चाहिये वह बड़े कामकी बात; सेवकमें सेवाको छोड़कर अपने किसी कामकी चिन्ता नहीं रहनी चाहिये। कोई इसीलिये शान्त हुए बिना—शान्त रसकी प्राप्ति हुये बिना दास्य रसकी प्राप्ति प्रायः नहीं कर सकता है। क्यों ? इसलिये कि उसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं। जिसका मन वशमें नहीं, जिसको अपने भोगकी लिप्सा, अपने आरामका ख्याल है और कहीं मालिककी सेवा करनेमें उसका अपना आराम कहीं कम पड़ता होगा तो सोचेगा क्या करें; तो ऐसी सेवा ठीक नहीं। अपना काम जबतक रहता है तबतक आदमी सेवक नहीं बन सकता। जहाँ अपना काम और मालिकका काम अड़ जाता है वहाँ सेवकका पता लगता है कि सेवक वास्तविक है कि नहीं। मेरे मालिकका काम सम्पन्न हो, मेरा काम चाहे उजड़े। एक पत्रा धाय रही। यह राजाओंके यहाँ दासी थी। उदय सिंह छोटा बच्चा था उसको मारनेके लिये एक शत्रु तैयार। उस पत्रा धायने क्या किया कि उस बच्चे राजकुमारको तो भेज दिया अलग और अपने बच्चेको वहाँ रख दिया। उसके बच्चेको राजकुमार समझकर वह आकर मार गया। पत्राधाय उस राजकुमारको लेकर चल दी और उसको बचा लिया। जहाँ अपना और मालिकका स्वार्थ अड़े वहाँ अपने स्वार्थका विघात करके मालिकके स्वार्थकी रक्षा करे, वह सेवक है।

भगवान्के दास तो हनुमानजी हो सकते हैं। सबलोग नहीं हो सकते। जिनको अपनी चिन्ता ही नहीं कि अपने लिये कुछ करना है, कुछ खाना—पीना है, कुछ आराम करना है, नौकरी क्या मिलेगी ? और इनाम क्या मिलेगा ? और कहीं तारीफ ही मिल जाय। हनुमानजीको तारीफ तक सुननेकी इच्छा नहीं और तो कोई बात ही नहीं। शान्त रतिवालेसे दास्य रति इसलिये ऊँची कि वह नजदीक पहुँच गया। मालिक उससे कह-कहकरके

काम कराता है। इसलिये शांतसे दास्य रति ऊँची है। दास्य रतिमें क्या होता है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।

मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥

(मानस/अरण्य/१०।२१)

यह दासका अभिमान है कि मैं सेवक और रघुपति पति मोरे—यह मेरे स्वामी। अपने स्वामीका अभिमान अपना अभिमान नहीं। वे मेरे स्वामी हैं मुझसे काम लेते हैं। मुझको सेवा बताते हैं। मेरा कितना धन्यभाग है। वे ऐसे मालिक हैं जो मेरे हो गये हैं। मालिकमें मेरेपनका भाव हो जाय और सेवामें ममता हो जाय। बस! सेवाके सिवाय और कोई काम नहीं। तो वह मालिकके नजदीक पहुँच गया। लेकिन नजदीक पहुँचनेपर भी संकोच होता है। दासमें और स्वामीमें परस्पर समानताका व्यवहार नहीं होता है उसमें भेद रहता है। एक उदाहरण देते हैं कि सारी वस्तुओंका भोग भोग—जगत्में एक—सा नहीं होता है। जैसे अन्नका भोग भोजन है, वस्त्रका भोग पहनना है, मुकुटका भोग सिरपर रखना है, जूतेका भोग पैरोंमें उसे पहनना है, सभी भोग हैं, सभी आवश्यक हैं। अपने—अपने स्थानपर सभीका महत्त्व है। लेकिन उनके अलग—अलग भेद होते हैं।

इसी प्रकार सच्चिदानन्दघन विग्रह श्रीभगवान्के भोग हैं तो सब सेवामें ही पर सेवा कोई दास्य रतिकी, कोई सख्यकी, कोई वात्सल्यकी, कोई मधुरकी होती है। इस प्रकारके उसके भेद होते हैं। सेवाके तारतम्यसे भोगमें भी तारतम्य आ जाता है। जो भगवान्को बड़ा अपनेको तुच्छ, भगवान्को स्वामी अपनेको सेवक, भगवान्को आज्ञा देनेवाला अपनेको आज्ञा पालन करनेवाला, भगवान्की सेवासे ही अपने जीवनकी सफलता माननेवाला, साधक है वह दास्य रतिका भक्त है। उसे सेवा अधिकार तो प्राप्त हो गया इसलिये शान्त भक्तकी अपेक्षा तो और आगे बढ़ गया, नजदीक आ गया। लेकिन वह आज्ञापालन परिचर्यादिके द्वारा भगवान्की प्रीति—साधन करनेके अतिरिक्त भगवान्को कोई आज्ञा नहीं देता है कि आप यह काम यूँ करो। यह तो कहता ही नहीं और सलाह देनेमें हिचकता है कि मालिकको सलाह कैसे दें। अपनी बातको दूसरेके द्वारा कोई बहुत नजदीकका सेवक होता है तो उससे कहते हैं।

रामचरितमानसमें आता है कि—भरतजीको कोई बात कहनी होती तो हनुमानसे कहते कि तुम जरा सरकारसे कह देना हमारी बात क्योंकि मालिकके सामने बोलनेमें भी संकोच होता है। वाल्मीकि रामायणमें आया कि

शत्रुघ्न महाराज रामके सामने बोलना तो अलग रहा, रामसे कुछ कह भी नहीं पाते और संकोचसे अलग रहते। लक्ष्मणसे भी नहीं बोलते। लक्ष्मणजी रामजीके साथ रहे थे और ये भरतजीकी सेवामें रहे। भरतजी सगे भाई तो नहीं, पर भरतजीकी सेवामें रहे तो कुछ कहना हो तो भरतजीसे कह देते और यह मानते कि रामजीकी सेवाका अधिकार तो अपने को है नहीं। भरत रामके प्रेमी और भरतकी सेवा अगर मिलती रहे तो अपने निहाल हो जायं, इसीमें रहे। जीवनभर कभी ये रामके सामने बोले नहीं और न तो माँग की, न तो आलोचना की, न राय ली और न रामने पूछा ही। जरूरत क्या है पूछनेकी ? भरतका सेवक है—हमारे सेवकका सेवक।

मथुरामें एक लवणासुर राक्षस था जो बड़ा उत्पाती था। रामके दरबारमें शिकायत आयी, बात हुई। यह तय हुआ कि लवणासुरका दमन करना है। उस दिन शत्रुघ्नके मनमें आ गयी कि सेवा सबको मिलती है जरा हमको भी कुछ मिल जाय। सोचे उस कह दें तो बोले—सरकार ! दया हो आपकी तो यह लवणासुरवाला काम दास कर दे। रामजी बोले हों ! हों !! अवश्य करो। लवणासुरका दमन करो और वहींपर राज्य करो। अब तो शत्रुघ्नपर वज्रपात हो गया। इसलिये कि आज ही बोले और बोलते ही काम बिगड़ गया। रामसे अलग होनेका आदेश मिल गया। अब बोल नहीं सकते। बड़ा पश्चात्ताप मनमें किया कि जीवनभर कभी बोले नहीं और आज बोले तो फल मिल गया बोलते ही।

दास भक्त जो होता है वह मालिकके सामने बकवाद तो करता ही नहीं, मालिकको सलाह भी देनी होती है तो दूसरेके द्वारा दिलवाना चाहता है स्वयं नहीं बोलना चाहता। इसलिये जब लंकामें विभीषण शरणागत होने आया तो भगवान्ने सबकी सम्मति ली और सबने बड़ी सम्मति दी। हनुमानजी बोले नहीं और रामका निर्णय सुनकर प्रसन्न हो गये। ठीक निर्णय है—यह तो कह दिया पर अपनी सम्मति पहले नहीं दी क्योंकि दास भक्त है। दास भक्त जो है वह परिचर्या, आज्ञापालन करता है। निरन्तर वह आज्ञापालनरूपी सेवा समुद्रमें निमग्न रहता है। दूसरा कोई उसका हेतु नहीं है। सलाह देना भी सेवा है। आज्ञा देना भी सेवा है पर सब प्रकारकी सेवाधिकार नहीं। परिचर्या कार्य है।

फिर जब कुछ भाव आगे बढ़े तो सख्यता पैदा होगी। सख्यता हुई तो समता आ गई। समतामें सलाह भी देता है। अब सुग्रीवजी और हनुमानमें क्या भेद ? पर सुग्रीवको सखा कहते हैं भगवान्। हनुमानको कभी सखा नहीं

कहा, बेदा कहा, तात कहा, सुत कहा पर सखा नहीं कहा और हनुमानके गलेमें कभी बाँह डालकर नहीं बैठे और कानके पास मुँह न लगाने दिया, न खुद लगाया। पर विभीषण और सुग्रीव इन दोनोंके तो कानके पास मुँह करके बात करते। उनके कानके पास मुँह लगाकर बात सुनते। सुग्रीवके पास की झाँकी है बड़ी सुन्दर। वहाँ विभीषणके कानमें मुँह लगाये कह रहे हैं और सुग्रीवसे राय पूछते हैं, कहो क्या करे ? सखा ! बोलो, तुम्हारी क्या राय है ? सखा राय भी देते हैं। सम्मति भी देते हैं। बिना पूछे देते हैं और कभी रास्ता ठीक न हो तो हाथ पकड़कर हटा देते हैं कि इधर मत जाओ—

‘कुपथ निवारि सुपथ चलावा’ (मानस / किष्कि० / ६ / ४)

यह सखाका धर्म है। यद्यपि सखा जीता है सखाके सुख—सम्पादनमें। वहाँ भी अपना सुख नहीं है। जैसे दासका काम केवल मालिककी सेवा है। यही उसका जीवन है। इसी प्रकार सखाका मित्रका काम केवल सखाका ही सुख है। जो ब्रज सखा हैं वह तो कुछ अजब हैं। ब्रजसखा और ब्रजके भगवान् यह जो हैं यह खिलाड़ी हैं। तो कभी ब्रजके सखा जब इनको गाली—वाली दें तब उनको आनन्द आता है। जब मानके रसमें आनन्द न आवे, तो जरा दो—चार गाली सुन ले। कोई संकोच नहीं गाली—वाली देनेमें। हनुमानजी महाराजने कंधोंपर राम—लक्ष्मणको बैठाकरके युद्ध किया, सब किया; पर भगवान्के कन्धेपर हनुमानजी बैठे हों तो बताइये। और श्रीदाम भगवान् श्यामसुन्दरको घोड़ा बनाकर चढ़ गया। भागवतकी कथा है।

‘त्वाच्च भगवान् श्रीकृष्णः श्रीदामानाम पराधीनः’

हार गये भगवान्। होड़ हुई थी कि जो हारे सो घोड़ा बने। अब अगर भगवान् भगवान् बन जाये तो उनको हरावे कौन ? भगवान् भगवान् बने रहें, अपनी भगवत्ताको लिये बैठे रहें। वैसे तो वैकुण्ठमें रहें फिर ब्रजमें आकर सखाओंके बीचमें क्यों अवतीर्ण हुए ? अपनी स्वयं सीमामें रहो वहाँपर रात—दिन सुनते रहो।

ब्रजमें आये हैं तो ब्रजमें माँ—बाप भी हैं, सखा भी हैं। होड़ लगी कि जो हारे सो घोड़ा बने। श्यामसुन्दर हार गये। श्रीदामने कहा कि बनो घोड़ा। श्यामसुन्दरको घोड़ा बनाया और श्रीदाम चढ़कर सवार हो गये पीठपर बोले—चल यहाँसे। ले गये उनको वंशीवदतक। श्रीदाम ले गये। यह अधिकार हनुमानको कहाँ है ? सख्यतामें जो समता है यह समता दास्य रतिमें नहीं है।

भगवान् श्यामसुन्दरकी गोष्ठलीला बड़ी मधुर लीला है। यहाँ भगवान्

बहुत फटकार सुनते सखाओंसे। जैसे सुबल बोले—लाला ! सो जा बहुत देर हो गयी, थक भये होंगे और गोदमें सुला लेता। सुबलने कहा गोदमें सो जा तो सिर रखकर सो गये। दूसरा आकर पेड़का पत्ता लेकर हवा करने लगा। वहाँ कौन—सा बिजलीका पंखा था। तीसरा पग दबाने लगा, सारे काम करें पर कहीं कृष्ण मालिकी लगाने लगे तो कान पकड़कर बाहर निकाल दें कि यह मालिक बनने आया है। सखा हो तो हम तुम्हारी सेवा भी करेंगे, खिलायेंगे भी, सब करेंगे, पंखा भी झल देंगे, मिट्टी भी झार देंगे पर कभी काम पड़े तो हमारी भी करनी पड़ेगी। सरल सखा हैं न ! थक जाते हैं। तकलीफमें नहीं रहने देते लेकिन बराबरीका काम। यह सख्य रसमें समता रहती है। सख्य रसमय जो भक्त हैं वे सख्य रसानुप्राणित चित्तसे भगवान्‌के प्रभुत्वको नहीं मानते। वहाँ तो बराबरीको मानते हैं। अर्जुन ऐसे ही करता था। वह तो देखा कालरूपको तब डरकर बोला। नहीं तो वह ऐसे ही नहीं कहता—हे कृष्ण ! हे यादव !! हे सख्येति !!! अपनी बात कह गया अर्जुन कि अरे, महाराज ! मैं तो समझा नहीं था, आप ऐसे हैं। इतने बड़े हैं आप। मैं तो मानता था आप मेरे सखा ही हो। तो माफ करना 'प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्' (गीता ११। ४४) अर्जुन बोले माफ कर दो मुझसे बड़ी भूल हुई। भगवान्‌ने सोचा कि, यह तो सारा रस भंग ही हो गया। अरे ! क्या कह रहे हो मित्र और फिर गलेमें हाथ डाल दिया।

सख्य रसमें बराबरीका दावा है। वहाँपर पैर पूजते हैं तो पैर पूजवाते भी हैं। कोई मनमें भय नहीं, आशंका नहीं। ये भगवान्‌ हैं तो सखा भी हैं। परन्तु सखा दण्ड नहीं देते। सखा प्रेमका सख्यत्वका शासन करते हैं। पर यह शासन नहीं कि बच्चा कहीं बिगड़ गया तो ठीक नहीं। भगवान्‌को हीन समझे अपनेसे यह बात सखामें नहीं आती। छोटा बच्चा है समझाता क्या है अभी भोला है, निर्बुद्धि है। कहीं आगमें हाथ डाल देगा, कहीं साँपको पकड़ लेगा, कहीं काँटेमें जाकर गिर जायेगा, कोई बगुलेकी चोंच पकड़े तो बगुला चोंच मार देगा। यह मूर्ख है बच्चा है; अभी इसको होश क्या है ? इसलिये मैं चारों तरफ निगाह रखती है, चौकन्नी रहती है कि यह बड़ा उधमी, बड़ा चपल है, न मालूम कब क्या कर बैठे ? बुद्धि तो है नहीं इसमें। तो शासनमें रखती है सम्भाल रखती है, रक्षा करती है, नेहसे पालती है और समय—समयपर तर्जन—ताड़न—मारन भी करती है। अँगुली दिखाती है कि खबरदार ! ऐसा फिर किया तो खबर ले ली जायेगी, तेरी

सारी शरारत निकाल देंगी। अच्छी सीख देती है न !

बच्चेको सीख न दे और खाली लाड़-ही-लाड़ करे तो बच्चा बिगड़ जाय। इसलिये वात्सल्य रसमें सीख दी जाती है, शिक्षा दी जाती है। श्रीमद्भागवतकी दाम बन्धन लीला वात्सल्य-प्रेमवती यशोदा मैयाके वात्सल्यका एक समुज्ज्वल दृष्टान्त हैं। मैयाने लाठी भी हाथमें ले ली, डराया भी, धमकाया भी, पकड़नेको पीछे दौड़ी भी, ऊखलसे बाँध भी दिया। कौन-सी बात बाकी रही ? बाँधा क्यों ? इसलिये कि कहीं गुस्सेमें आकर भाग गया जंगलमें तो ? और अपनेको घरका काम भी करना है। यह माँगेगा थोड़ी देर बाद खानेको। कोई सेवक तो हैं नहीं। सबको भेज दिया बाहर कहीं माँग न ले और यह इतना चंचल है कि काम करने देगा नहीं और कहीं छोड़के भाग जाय। आज गुस्सेमें आ गया है। कहीं जंगलमें भाग गया तो मुश्किल होगी और पास बैठी रहे तो घरका काम कौन करे ? तो चलो बाँध दो। बच्चा है बाँधा रहेगा। इस प्रकारसे वात्सल्य भावमें होता है। वात्सल्यमें सख्य भी है। वात्सल्यमें दास्य भी है। माँ जितनी सेवा करती है बच्चेकी उतना दास नहीं करता है। किसी भी दाई-बाईको रखो, टट्टी धोनेका काम माँ जैसा कोई करता ही नहीं है। बीमार है, दुर्गन्ध आ रही है ऐसे बच्चेको गले लगाये ऐसा माँके समान कोई सेवक-सेविका होता ही नहीं है। माँमें दास्य रति है। माँमें अपनी सभी इन्द्रियोंका दमन है; बच्चेके हितके लिये। माँ सोई है और बच्चा जाड़ेमें मूत्रमें पड़ा है, दूसरा कपड़ा नहीं है तो माँ मूत्रमें, गीलेमें आ जायेगी और बच्चेको सूखेमें कर देगी। दमन—इन्द्रियोंका दमन, मनका दमन। दास्य रतिमें सलाह देना, मित्रतावाली बात पूरी-की-पूरी है। वात्सल्य शासन भी करती है तो वात्सल्यमें सख्य भी है, वात्सल्यमें दास्य भी है, वात्सल्यमें शान्त भी है पर यहाँ भी सर्वात्मनिवेदन नहीं है। वात्सल्यमें सर्वात्मनिवेदन नहीं है क्योंकि वात्सल्यमें भी कुछ छिपाव है, मर्यादा है, कुछ दुराव है, कुछ सीमा है, कुछ संकोच है, संभ्रम और ढंगका है—बच्चेके सामने माँका व्यवहार और पतिके सामने पत्नीका व्यवहार। माँका बड़ा ऊँचा वात्सल्य होते हुए भी संकोचमें, शीलमें अन्तर है। कहते हैं कि इसलिये जैसे हीन बुद्धिकी सेवा करनेका अधिकार सख्य को नहीं, दास्यको नहीं, शांतको नहीं इसी प्रकार सर्वात्मनिवेदन रूपसे सेवा करनेका अधिकार वात्सल्यमें भी नहीं।

अतएव वात्सल्य प्रेमकी अपेक्षा भी मधुर प्रेम जो है यह सबसे श्रेष्ठ है। मधुर रसकी सेवा इन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि इस रसमें मत्तको

अबाध रूपसे सेवा प्राप्त होती है। अर्थात् औरोंमें कोई—न—कोई, कहीं—न—कहीं बाधा वर्तमान है। धर्मकी, नीतिकी, शीलकी, मर्यादाकी, संकोचकी बाधा परन्तु निर्बाधरूपसे भगवान्की सर्वविध सब प्रकारकी सेवाका अधिकार मधुरमें ही प्राप्त होता है। इस रसके समान किसी रसमें सेवा नहीं होती। भगवान्के साथ नाना प्रकारसे व्यवहार विलास आदि इस रसके सिवाय अन्यत्र नहीं होता। बहुत—सा इसका वर्णन है इसको छोड़ देते हैं।

देहमें और दैहिक पदार्थोंमें अहंता, ममता भाव रखकर जो संसारमें रहते हैं बहिर्मुखजीव उनकी कोई बात ही नहीं है। प्रेमसे सेवा करनेवालोंकी जब आलोचना करते हैं तो ऐसा भालूम होता है कि किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे जब सबके मूलस्वरूप परब्रह्ममें मैपनकी धारणा हो जाती है तब ऐसे सुख—दुःखसे अतीत होकर सच्चिदानन्दधन परब्रह्ममें विलीन हो जगता है साधक। यह ब्रह्माद्वैतकी बड़ी ऊँची अवस्था है। वह सब कुछ भूलकर छोड़कर सच्चिदानन्द स्वरूपमें स्थित हो जाता है परन्तु जो भगवान्के लीला—गुणादिके श्रवणसे आकृष्ट होकर भगवान्को प्यार कर सकते हैं वे संसारकी सारी ममताको भूलकर भगवान्के ममता रसमें डूब जाते हैं। वे अपनी अहंता भगवान्में विलीन कर देते हैं और ये भगवान्के ममता रसमें डूबते हैं तो ऐसे जो भगवान्के ममतापन्न भक्त हैं वह निर्विशेषत्वको प्राप्त नहीं होते। मुक्त तो होते हैं; निर्विशेषत्वको प्राप्त नहीं होते परन्तु ममताके आनन्दमें अपनेको खो देते हैं और सेवानन्दका आस्वादन प्राप्त करनेका सुयोग प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्ममें डूब जाते हैं वह सेवानन्दके आनन्दकी उपलब्धि नहीं कर सकते—स्वरूपानन्दकी करते हैं।

इसलिये भगवान्में अहं बुद्धिरूप ब्रह्मभावमें किसी प्रकारका विषय सम्बन्ध, वैश्विक सुख, अज्ञान, पीड़ा, दुःख न होनेपर भी सच्चिदानन्दका आस्वादन नहीं है। सच्चिदानन्दरूप तो है पर आस्वादन नहीं है। ब्रह्मभाव अनुभूतिविहीन सच्चिदानन्द स्वरूपता मात्र है। किन्तु भगवान्में ममता समर्पण करके शान्त भावसे वैश्विक सुख—दुःखादिको जब छोड़ देता है तो यह पीड़ा वहाँ है नहीं। पर भगवान्में ममतारूप परमानन्दका आस्वादन आरम्भ हो जाता है, शान्तरससे ही। बहिर्मुखभावकी अपेक्षा बहुत ऊँचा—बहुत ऊँचा यह ब्रह्मभाव है। उसकी मिलानका शान्त भाव है पर शान्तभावमें भगवान्में ममता होनेके कारणसे भक्तोंकी शान्त रसकी दृष्टिसे यह अधिक ऊँचा है। इससे भी ऊँचा दास्य रस है। श्रीकृष्णकी निष्ठामें दास्य—उससे सेवा प्राप्त होती

है और शान्तमें और दास्यमें जो नजदीकपन नहीं है सामीप्य नहीं है वह सख्यरूपमें है। विषय—वितृष्णा, कृष्णनिष्ठा और कृष्णसेवा यह तीनों सख्यमें निःसंकोच प्राप्त होती है। वात्सल्यमें सख्यके व्यापित गुण विद्यमान होनेपर हीन ज्ञानरूप सेवाधिकार प्राप्त होता है और मधुर रसमें शान्त, दास्य इत्यादि चतुर्विध जो रस है उनकी विषय—वितृष्णा, विषय—वैराग्य, इन्द्रिय—दमन, कृष्णनिष्ठा, कृष्णसेवा असंकोच और हीन ज्ञान यह सब रहनेके साथ—साथ और एक विशेष बात होती है कि अपने सारे जीवनके द्वारा, अपने सारे अंगोंके द्वारा भगवान्की सेवाका अधिकार प्राप्त होता है। परिपूर्णरूपसे श्रीकृष्णसेवा रसास्वादन होता है।

परिपूर्ण कृष्णप्राप्ति एइ प्रेमा हैते।

एइ प्रेमेर वश कृष्ण, कहे भागवते ॥ (चै० च० २। ८। ६६)

कहते हैं कि परिपूर्ण कृष्ण प्राप्ति इस प्रेमाभक्तिसे होती है। तब परिपूर्ण रूपसे कृष्ण सेवानन्दका रसास्वादन होता है। इसीलिये इसका नाम मधुर रस है। इसीलिये इसका नाम उज्ज्वल रस है। नाना प्रकारसे इसका यों वर्णन आता है। और रसोंमें यह पूर्णता नहीं प्राप्त होती। इसलिये इस शृंगार रसमें पूर्णता होती है।

निज—निज भावे सबे श्रेष्ठ करि माने।

निजभावे करे कृष्ण सुख आस्वादने ॥ (चै० च० १। ४। ३६)

इनमें कोई भी किसीको नीचा नहीं कह रहे हैं। न तो शान्तरसका ज्ञानी नीचा है और न शान्तरसका भक्त नीचा है और न ही दास्य, सख्य, वात्सल्यवाले नीचे हैं। यह अपने—अपने भावोंसे सभी श्रेष्ठ हैं और सभी अपनेको श्रेष्ठ मानते हैं और अपने—अपने भावके अनुसार श्रीकृष्णके सुखका आस्वादन करते हैं परन्तु जब हम विचार करते हैं तारतम्य पर तो ऐसा अनुमान होता है कि —

सब रस हैते शृंगारे अधिक माधुरी (चै० च० १। ४। ४०)

सब रसोंकी अपेक्षा शृंगारमें माधुर्य अधिक है। इसलिये इसका नाम मधुर रस है। शास्त्रोंमें जो वचन मिलते हैं, पुराने इतिहासमें भगवान्के चरित्र, लीलाके मिलते हैं उनपर विचार करनेसे यही निष्पन्न होता है कि मधुर रसमें भगवान्की सेवा सबसे अधिक होती है और सर्वविध होती है और इसमें सेवानन्दास्वादन सबकी अपेक्षा अधिक होता है। जो भगवान् चाहें वही सेवा तैयार। किसी रसका बीचमें बाधक होना इसमें नहीं है। इस रसको जो अपने

जीवनमें उतारते हैं वे भगवान्‌को प्राण-बल्लभ कहते हैं। यहाँ प्राण-बल्लभ कह सकते हैं, दास्य रसमें भगवान् प्रभु हैं, भक्त दास हैं या दासी ही है। सख्य रसमें सजातीयता सापेक्ष हैं। समभावापन्न होना चाहिये या सजातीयता होनी चाहिये। इसलिये उस रसमें सखा अथवा सखी मूर्तिका विशेषत्व है। वात्सल्य रसमें भगवान्‌में पुत्र-ज्ञान है अतएव इस रसमें भक्तगण अपनेको यथायोग्य पिता माता इत्यादि मानते हैं। मधुर रसमें केवल प्रेयसी भाव है। इसलिये यहाँ गोपी भावको प्राप्त साधक ही उस रसमें उतर सकता है अन्य नहीं उतर सकते।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।

पीताम्बरधरः स्रग्धी साक्षात्मन्मथमन्मथः । ।

(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २)

इत्यादि श्लोकोंकी व्याख्या जब होगी तब इस विषयपर विशेष प्रकाश डाला जायेगा कि भगवान् क्या है, कैसे हैं ? एक बात यह ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्‌के आनन्दवर्धन करनेके लिये इनके साथ विलास विहारादिके लिये चित्तमें व्याकुलता होनेपर भी उस व्याकुलताके साथ प्राकृतकाम और प्राकृत कामाधिष्ठानके देवता मदनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध यदि आता है तो वह प्रेम नहीं है, मधुर रस नहीं है। वह नरकाग्निका प्रेरक दण्डनीय भाव है तथापि कोटि-कोटि मन्मथ मन्मथरूप श्रीभगवान् ही साक्षात् मन्मथरूपसे उस भक्तके चित्तको मथन कर डालते हैं।

इसलिये इनके साथ सच्चिदानन्दमयी रसमयी रासलीलामें सेवाकी सम्भावना है। इसी सम्भावनाको बतानेवाला ३२ वें अध्यायका प्रारम्भ होता है। जहाँ 'तासामाविरभूच्छौरिः' कहते हैं। इसमें अब आगे बतायेंगे कि रमणी भावापन्न—गोपीभावापन्न प्रसंगमें श्रेष्ठ कौन है। अर्थात् यह रन्तुं मनश्चक्रे—रमण—रमणका पात्र कौन है ? भगवान्‌का जो स्वरूपानन्द वितरणरूप आनन्द रसास्वादन है इस आनन्द रसास्वादनका अधिकार केवल श्रीगोपांगनाओंको है और यह क्यों है ? इनका क्या स्वरूप है यह आगे बतायेंगे।

(५)

भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योममायामुपाश्रितः । ।

'भगवानपि ता रात्रीः'—सबसे पहले भगवान् शब्द है। भगवान् शब्द क्यों आया ? भगवान् शब्दका क्या अर्थ है और भगवान्‌ने रमण करनेकी

इच्छा की इसलिये इस रमणका स्वरूप क्या है ? इस विषयपर अपनी बातचीत हो चुकी है। रमण शब्दका अर्थ है—आनन्दास्वादन। रमण शब्द व्यवहार होता है लौकिक विलासके लिये भी, रमण शब्दका व्यवहार है आत्माराम महात्माओंके आत्मरमणके लिये भी और यहाँ तो भगवान्के रमणकी बात है ही। इसमें विषयासक्त और अनासक्त—इन दो प्रकारके गुणोंका आनन्दास्वादन है अर्थात् यह आनन्दका आस्वादन है। संसारी लोगोंका तो विषय भोगमें और अनासक्त महात्माओंका है आत्म—साक्षात्कार—आत्म—रमणमें और भगवान्का आनन्दास्वादन है स्वरूपानन्द वितरणमें। यह बात अपनी हो चुकी है कि भगवान् जब षडैश्वर्यसम्पन्न हैं और पूर्णकाम, नित्यकाम, आप्तकाम हैं तो भगवान्में विषयकाम हो नहीं सकता और आनन्दास्वादन इनमें है नहीं। आत्मारामोंका जो आत्मरमण है उसमें भी अनासक्त भाव होना चाहिये, सुखकी इच्छा होनी चाहिये, मोक्षकी इच्छा होनी चाहिये। वह भगवान्में है नहीं—यह स्वयं आनन्द स्वरूप हैं, आनन्दके मूल हैं। नित्य मुक्त हैं तो इनका आत्मरमण है नहीं फिर इनका क्या है ? इनका है स्वरूपानन्द वितरण—यह तीन भेद हैं।

जीवके आनन्दास्वादनका उद्देश्य है—दुःख—निवृत्ति। जो विषय—भोग चाहते हैं वे भी विषयके अभावमें दुःखकी अनुभूति करते हैं। उनका आनन्दास्वादन विषय भोगके द्वारा दुःखकी निवृत्ति होना है और यह अनासक्त महापुरुष जो हैं वे आत्मसाक्षात्कारके बिना महान् दुःखकी अनुभूति करते हैं तो इनका आनन्दास्वादन है—आत्मसाक्षात्कार रूप दुःखकी निवृत्ति। और भगवान्का आनन्दास्वादन है—स्वाभाविक लीला। आनन्दास्वादन तो तीनोंका है और तीनोंके तीन भेद—उनका विषय भोगसे, उनका आत्मरमणसे और उनका स्वरूपानन्द वितरणसे। परन्तु उसमें प्रयोजन क्या है ? जीवोंके आनन्दास्वादनका प्रयोजन है दुःखकी निवृत्ति और भगवान्के आनन्दास्वादनका प्रयोजन है लीला केवल।

‘लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्’ (वेदान्त दर्शन २। १। ३३)

श्रीभगवान्के स्वरूपानन्द वितरणके समयपर विचार करनेसे यह मालूम होता है कि भगवान् स्वरूपानन्दका वितरण कहीं करते हैं ? कहीं करते हैं, कहीं नहीं करते। जो आनन्द है किसी विषयमें कहीं भी—वह आनन्द भगवान्के आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त कहीं औरसे आता है ? विषय—भोगमें भी जो आनन्दकी अनुभूति है—वह आनन्दका श्रोत, आनन्दका मूल, आनन्दका

भण्डार तो भगवान्‌का स्वरूप ही है। इसलिये इसपर विचार करते हुए कहते हैं कि जैसे सूर्य सर्वत्र अपनी किरणोंका वितरण करता है। इसी प्रकार आनन्दमय भगवान् भी सर्वत्र स्वरूपानन्दका वितरण किया करते हैं। यह भगवान्‌का स्वभाव है।

‘ऐते सेवा निन्दस्यामि यामि भूतानि मात्रापजीवन्ति’

यह वृहदारण्यक उपनिषद्‌का वचन है कि आनन्दमय भगवान्‌के स्वरूपानन्दकणका ही सारे जीव उपभोग करते हैं। और कहीं है ही नहीं आनन्द। सूर्यके सर्वत्र समभावसे किरणोंका वितरण करनेपर भी जैसे सर्वथा समानभावसे प्रकाश नहीं होता है। यद्यपि सूर्यके वितरणमें कमी नहीं है परन्तु समान भावसे प्रकाश नहीं होता है। सूर्य किरणें जब सूर्यकान्त मणि पर पड़ती हैं तब उसका विशेष प्रकाश होता है। सूर्यकी किरणें जब किसी तेजस पदार्थपर किसी चमकती हुई चीज पर पड़ती है तो विशेष चमक होती है। सफेद चीज पर पड़ती है तो चमक तो नहीं होती परन्तु उज्ज्वल प्रकाश होता है और अगर मिट्टीके घड़े या काली चीजपर पड़ती है तो मिट्टीके घड़ेपर केवल उत्ताप दीखता है और काली जगहपर उत्तापका भी अनुभव हाथ लगाने पर होता है। सूर्यकी किरणोंमें तो भेद है नहीं। यह भेद है इसलिये कि उसके जो ग्रहण करनेके पात्र है उनमें अन्तर है। भगवान्‌के स्वरूपानन्दका जो वितरण है, वह प्रेमी भक्तोंमें तो पैदा करता है प्रेम—विकार। विकार शब्द रस शास्त्रमें आता है पर यह लौकिक विकारवाला विकार नहीं है। प्रेमकी जो दशाएँ हैं—प्रेमके प्रादुर्भूत होनेपर जिस प्रकारकी स्थितियाँ होती हैं उन स्थितियोंका नाम विकार है। इसको सात्त्विक भावका फल कहा है। इन भक्तोंमें तो दो विकार होते हैं—प्रेम विकार और सेवा रसास्वादिनादि विकार—यह भगवान्‌की सेवाके रसका आस्वादन करते हैं और उनमें प्रेमकी विचित्र अवस्थाएँ प्रादुर्भूत होती हैं। जो अनासक्त जीव हैं उनको दुःख निवृत्ति और आत्मारामलाभता प्राप्त होती है और जो विषयासक्त जीव हैं उनको किंचित् विषयोंमें आनन्दकी उपलब्धि होती है। इसलिये जैसे सूर्यकी किरणोंमें सूर्यका पक्षपात न होनेपर भी सूर्यकान्त मणि देखनेपर मालूम पड़ता है कि सूर्यने पक्षपात किया, यहाँ देखो, ज्यादा प्रकाश हो गया, और पास रहनेवाली चीज जल भी गयी और बेचारे मिट्टीके पात्रको यूँ ही रहने दिया। इससे लोगोंको दीखता है कि यह पक्षपात है।

इसी प्रकार यह भगवान्‌के आनन्द वितरणमें पक्षपात न होनेपर भी

प्रेमी भक्त, अनासक्त जीव और विषयासक्त जीव इनके आनन्दोपभोगमें तारतम्य देखनेपर वहम हो जाता है लोगोंको कि भगवान्के आनन्द वितरणमें कहीं पक्षपात है। परन्तु भगवान्के आनन्द वितरणमें पक्षपात नहीं है। जैसे गंगा बह रही है। गंगाका जल सबके लिये समान है कोई चाहे जितना ले ले। परन्तु अपने-अपने पात्रके अनुसार जल आता है। बहते हुए गंगामें जिसका जितना बड़ा पात्र उतना ही जल लेनेमें समर्थ होता है—छोटे पात्रमें थोड़ा और बड़े पात्रमें ज्यादा। इसी प्रकार भगवान् सर्वत्र सम होनेपर भी और उनके स्वरूपानन्द वितरणकी व्यवस्था भी सम होनेपर विषयासक्त जीव नाना प्रकारके विषयोंका सम्बन्ध रहनेके कारण आनन्दका छुद्र कण ही ग्रहण करते हैं। जैसे थोड़ी चीनी है और उसमें नीम-चूर्ण मिला दिया जाय तो चीनीका स्वाद तो आयेगा। जो मिठास है वह चीनीकी आयेगी परन्तु नीमके कारणसे खारापन रह जायेगा। इसी प्रकार विषय सम्बन्ध अधिक होनेके कारणसे विषयानन्द वह आनन्द नहीं देगा जो आत्मारामजनोंको मिलता है। जो आनन्द सेवा रसमें मिलता है प्रेमियोंको, वह उनमें नहीं मिलता है।

भगवान्का स्वरूप है आनन्द। रमण शब्दका मुख्य अर्थ है आनन्दास्वादन। भगवान् जीवोंमें स्वरूपानन्दका आस्वादन कराते हैं। भगवान् ही अपने स्वरूपानन्दका वितरण करते हैं। इसलिये आनन्दास्वादन एक होनेपर भी जीवका दूसरा और आत्मारामोंका दूसरा तथा भगवान्का दूसरा। अनासक्त जीव जो है वे विषय-सम्बन्ध मात्रको दुःख हेतु मानकर और सब प्रकारके विषयोंका सम्बन्ध परित्यागकरके आनन्दस्वरूप ब्रह्मके अनुसंधानमें रत रहते हैं; और ब्रह्मानन्दका अनुसंधान पाकर उसमें विलीन हो जाते हैं। यह उनका आत्मरमण है। यह आनन्दास्वादन है। विषयी लोग जो हैं वे विषयोंमें आनन्दकी उपलब्धि करते हैं, उनका आनन्द क्षणिक होता है। तत्काल आनन्द बदला और दुःखमें परिणित हो गया। कहते हैं कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति जो है इसमें और भगवान्के स्वरूपानन्दमें थोड़ा अन्तर है। वह अन्तर क्या है कि भगवान्का जो स्वरूपानन्द वितरण है वह प्रेमीगणमें सुखका वितरण करके, स्वरूपानन्दका वितरण करके उसका रस भगवान् लेते हैं। यह भगवान्का स्वरूपानन्द वितरण-प्रेमियोंको सुख देनेमें निमित्त बनकर सुखका आस्वादन कराता है। ऐसा क्यों होता है? प्रेमी भक्त ही अपने प्रेमानुरूप सम्बन्धसे भगवान्को अपना मानते हैं। भगवान् मेरे और अपने-अपने प्रेमानुभवरूपसे भगवान्के स्वरूपानन्दका आस्वादन करते हैं। वात्सल्यवाले वात्सल्यका,

सख्यवाले सख्यका, मधुरवाले मधुरका इस प्रकारसे उनको आनन्दकी प्राप्ति होती है। इसमें और भेद नहीं है कोई कैसा भी हो।

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्।।

(श्रीमद्भा० ११। १४। २१)

श्रीमद्भागवतके इस वचनसे यह सिद्ध होता है—भगवान्ने उद्धवसे कहा है कि सारे जीवोंमें आत्मस्वरूप होते हुए भी भक्त मेरे परम प्रिय हैं। उनकी भक्तिसे, उनके प्रेमसे मैं निरन्तर उनके वशमें रहता हूँ। भक्तिका माहात्म्य यहाँतक कि भगवान्की भक्ति करनेसे श्वपाक—कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल जातिका भी सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है। गीतामें भी भगवान्के ऐसे बहुतसे वचन आते हैं। 'भक्त्या त्वनन्यथा शक्यः' (११। ५४) इत्यादि। गीतामें भक्तोंके लिये खास बात कही है कि—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। (६। २६)

इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे भूतोंमें, दूसरे प्राणियोंमें स्वरूप—वितरणमें भेद है। भक्तका जो प्रेम है उनकी जो भक्ति है वह भगवान्के स्वरूपानन्दको जितना ग्रहण करती है उतना ग्रहण और लोग नहीं कर सकते—इसीलिये भक्त उनके और वे भगवान्के। इसका अर्थ यह नहीं कि उनके स्वरूपमें कोई भेद है या वितरणमें कोई पक्षपात है। यह चीज नहीं है। यहाँतक कह दिया श्रीमद्भागवतमें—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेष्यो मनागपि।। (६। ४। ६८)

वह मेरा हृदय और मैं उनका हृदय। हृदयकी अदला—बदली हो गयी। साधु मेरा हृदय और मैं उनका हृदय हूँ। उनको छोड़कर मैं किसीको नहीं जानता और मुझको छोड़कर वे किसीको नहीं जानते। दो नहीं रह गए।

अतएव सर्वभूतोंमें समान रहनेपर भी भगवान्का भक्त पक्षपात यदि कोई माने तो उसे मान लेनेमें कोई आघात भी नहीं है। पक्षपात तो नहीं है पर भक्त हृदय जितना उसे ग्रहण करता है उतना उसे दूसरा ग्रहण नहीं कर सकता। भक्त हृदयमें जो प्रियत्व है यह कहीं और रहता नहीं; इसलिये पक्षपातकी—सी बात दीख पड़ती है। क्यों दीख पड़ती है ? इसलिये कि यह प्रेमी भक्तोंके साथ आचरण करनेमें भगवान्की प्रेमाधीनता साथ रहती है।

आत्मारामोंके साथ व्यवहार करनेमें प्रेमाधीनता नहीं है। वहाँ तो आत्मस्वरूपका दान है और यहाँ प्रेमाधीनता है। यह और कहीं नहीं। जगत्में भी देखा जाता है कि जो उदार लोग होते हैं, दानी लोग—उन दानी लोगोंको कोई दान लेनेवाला ठीक मिल जाय तो उन्हें बड़ा आनन्द होता है। वह तो देनेके लिये तैयार ही बैठे हैं पर कोई ग्रहण करनेवाला मिल जाता है ग्राहक तो उनको बड़ा आनन्द होता है और दी हुई वस्तु ग्रहण करके यदि वे देख लेते हैं कि इसको पाकर लेनेवाला बड़ा सुखी होता है तब तो उनके आनन्दकी सीमा ही नहीं रहती। वस्तुके देनेमें आनन्द और देकर देखते हैं कि वह इसको ठीक भोग रहा है, सुख भोग रहा है, तो उन्हें बड़ा आनन्द होता है।

इसी प्रकार यह आनन्द—दानशील जो भगवान् हैं यह भगवान् भी जब आनन्दका ग्राहक मिल जाता है तो बड़े आनन्दित होते हैं। किन्तु जो विषयासक्त जीव हैं वे दिये हुए आनन्दके साथ धूल मिला लेते हैं, मिट्टी मिला देते हैं। इसलिये उनका यह मिश्रित आनन्द उनको भी आनन्द नहीं देता और भगवान् भी देखते हैं कि ये तो ठीक नहीं है। इसी प्रकार जो अनासक्त आत्माराम हैं वे स्वरूपानन्द सिन्धुमें विलीन हो जाते हैं। स्वरूपानन्दसागरके साथ ये घुलमिलकर एक हो जाते हैं तो इनको भी भगवान् आनन्दास्वादन करते देख नहीं सकते। कैसे देख सकें यह तो विलीन हो गए आनन्द सागरमें। पर जो प्रेमी भक्त हैं उनको तो भगवान् देखते हैं कि यह हमारे प्रेमानन्दको पाकर रस-विलासमें मत्त हो रहे हैं।

इसलिये अपने स्वरूपानन्दका ठीक-ठीक ग्रहण करनेवाले और सुचारु रूपसे आस्वादन करनेवाले भक्तोंको देख करके तथा उनमें वितरण करके भगवान् अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। इसलिये यह जो स्वरूपानन्दका वितरण है भगवान्का यह भक्तोंमें जाकर ही भगवान्को आनन्दास्वादन देने वाला होता है।

यहाँ रमण शब्दका अर्थ है—आनन्दास्वादन और प्रेमाधीन भगवान्का भक्तोंमें आनन्द-वितरण। यह तो सिद्ध हो ही गया कि भगवान्का रमण स्त्री-विलास और काम-क्रीडा तो है ही नहीं। इसकी तो कल्पना ही नहीं है। यह तो कल्पनातीत चीज है। आनन्दास्वादनका यहाँ किसी प्रकारसे भगवान्के साथ सम्पर्क ही नहीं। तो 'भगवान्ने रमणकी इच्छा की' इसका यही अर्थ है कि आनन्दमय भगवान्ने अपने प्रेमी भक्तोंके वासनानुरूप भावानुरूप आनन्द-वितरण करके स्वरूपानन्द आस्वादनकी इच्छा की। यह

‘रन्तुं मनश्चक्रे’ का अर्थ है।

इसलिये जो युक्ति अबतक दी गयी प्रमाण दिया गया; यह है तो बहुत थोड़ा पर समझने वाले लोग इतनेसे ही समझ जायेंगे कि भगवान्‌का स्वरूपानन्द वितरण यहाँ पर है—यह रमणका अर्थ है।

जीव गोस्वामीने अपनी टीकामें लिखा है—

सर्वातिशायी प्रेमवतीनां ब्रजसुन्दररीनां मनोरथ परिपूर्णमेव
प्रियमात्तसुखार्थं सर्वं कुर्वतः श्रीभगवतोमुखतरप्रयोजनम् इति
दर्शयन् तदेव च तस्य सर्वातिशायीसुखमिति च प्रकटयन् तदे
योगाभिस्तारिणी सह रासक्रीडाम् पञ्चेमृततुल्यैः पञ्च..... वर्णयते।

अपने किसी भी प्रियजन भक्तके आनन्दवर्धनार्थ जो कुछ भी कार्य है वह भगवान् करते हैं। अतएव प्रेमवती ब्रजसुन्दरियोंके मनोरथको पूर्ण करना ही यहाँ भगवान्‌का मुख्यतर प्रयोजन है। वही यहाँपर सर्वश्रेष्ठ आनन्दास्वादन है। इस परम तत्त्वके प्रकाशके लिये ही श्रीमद्भागवतके पाँच इन्द्रियोंके समान यह पाँच अध्याय हैं। ये भगवान्‌के साथ गोप रमणियोंके क्रीड़ा योग्य लीलाका वर्णन रास-क्रीडाके नामसे वर्णित है। यहाँ यह कहते हैं कि भगवान् जिनको प्यार करते हैं; वही भगवान्‌के प्रिय है और भगवान् भी उनके प्रिय हैं। यह गीतामें भगवान्‌ने घोषणा की, चाहे काल कुछ बताये पर कहा—‘भक्तिमान्यः स मे प्रियः’ (१२। १७) जो भक्तिमान है वह मेरा प्रिय है। भक्तिमानकी प्रियता भगवान्‌को स्वीकार है, विशेष रूपसे। भगवान् सब जीवोंमें समदृष्टि होनेपर भी जब अवतीर्ण होते हैं तो परित्राण किसका करते हैं? साधुका करते हैं तो वहाँ वह विषम नहीं है। साधुओंका परित्राण करते हैं और दुष्कृतोंका विनाश करते हैं। भगवान्‌के जो प्रियजन है वही भगवान्‌के भक्त हैं वही साधु हैं।

तो ‘मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधा क्रियाः’ यह पद्मपुराणका वचन है कि हम अपने प्रियजनोंका प्रिय कार्य करनेके लिये सब लीला करते हैं। भगवान्‌की लीलाका कारण है प्रियजनोंका प्रिय कार्य। अपने प्यारोंको सुख देना। प्यारोंमें—चाहे कितने भी कोई प्यारे हों। ब्रज सुन्दरियोंके समान प्रिय भगवान्‌का आजतक कोई हुआ नहीं है। बोले प्रमाण? तो प्रमाण तो बहुत है पर भगवान्‌के शब्द ही यहाँपर उद्धृत किये जाते हैं—

निजांगमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।

ताभ्यां परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।

जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ॥ (आदि पुराण)

भगवान्का संवाद है। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! श्रीगोपांगनाएँ अपनी देहको मेरी सेवाका उपकरण ही मानती है। इनसे भोग—सुख मिलेगा यह नहीं मानती। अपने शरीरसे हमें भोग—सुख मिलेगा, इसके लिये शरीर है ये यह नहीं मानती। अपने देहको भगवान्की सेवाका उपकरण मानती हैं और इसीलिये देहसे प्यार करती हैं। हमलोगोंका जो देहसे प्यार करना है यह दूसरा। हमारी देहासक्ति है। हम देहको सुख देनेके लिये, शरीरके आरामके लिये ही सारे पदार्थोंका सेवन करते हैं। इमारा कमाना, खाना इन दो ही चीजोंके लिये होता है। शरीरको आराम मिले और नामका नाम हो। इस मिथ्यानामका नाम हो और पाञ्चभौतिक मल—मूत्रसे भरा हुआ यह शरीर—इसको आराम मिले। देहासक्तिको लेकरके हम देहसे प्रेम करते हैं और गोपियोंका जो देहसे प्रेम है यह देहके लिये नहीं है यह भगवान्के सुखके लिये है। गोपियोंका जो वस्त्राभूषणादि सेवन है, ग्रहण है, देहको सुसज्जित करना है—यह भी अपने लिये, अपनी शोभाके लिये नहीं है। अपनी शोभाके लिये हो तो वह देहासक्ति है। वहाँ प्रेमकी कहीं कल्पना भी नहीं है। यह तो वेश्याओंका काम है—अपनेको सजाना। पतिव्रता भी नहीं सजाती पतिको दिखानेके सिवाय।

इसलिये भगवान्ने कहा—यह जो श्रीगोपांगनाएँ हैं इनका देहको सज्जा करनेका, सुशोभित करनेका हेतु है केवल मेरा सुख, केवल मैं। इसलिये निगूढ़ प्रेमभाजन सबसे उत्तम सबसे श्रेष्ठ है। मेरा प्रेमपात्र तीनों लोकोंमें कोई नहीं है; गोपांगनाओंको छोड़कर। इसलिये मेरा सारा—का—सारा, जैसा जो कुछ मैं हूँ, यह गोपांगनाओंमें उतर आया है। लोग मेरी महिमा गाते हैं, मेरी आँखसे मेरी महिमा न जानकर अपनी—अपनी बुद्धिसे महिमाका गान करते हैं पर भगवान्का भगवान्की दृष्टिमें महिमाका पदार्थ क्या है ? इसको नहीं जानते। इसी प्रकार सेवा करते हैं अपने मनोनुरूप और उनकी सेवाको भगवान् कहते हैं कि मैं ग्रहण भी करता हूँ लेकिन मेरी सेवा वास्तवमें क्या है इसको मैं ही जानता हूँ।

अब तीसरी बात है श्रद्धा। हम अपनी श्रद्धासे भगवान्को क्या—क्या बना लेते हैं। तामसी श्रद्धा हमारी है तो न जाने भगवान्को कैसे रूपवाले बना लेते हैं। हम अलग—अलग अपनी श्रद्धाके अनुसार भगवान्के रूपकी कल्पना

करते हैं पर भगवान्की श्रद्धाका भगवान्की दृष्टिमें क्या स्वरूप है यह भगवान् ही जानते हैं और 'मन्मनोगतम्' भगवान्के मनमें क्या है, यह भगवान्का मन ही जानता है लेकिन वो कहते हैं कि श्रीगोपांगनाएँ जो मेरी निगूढ़ प्रेमभाजन हैं इनमें सारा—का—सारा मैं उतर आता हूँ। इसलिये मेरा माहात्म्य, मेरी सेवाका स्वरूप, मेरी श्रद्धाका स्वरूप, मेरे मनमें क्या है इसका यथार्थ दर्शन, तत्त्वसे केवल गोपियोंको होता है और किसीको होता ही नहीं।

चार प्रकारकी सेवा बनती है—एक तो आज्ञा मानकर, एक संकेत पाकर, एक रुचि देखकर और एक सेव्यके मनको अपने मनमें उतारकर। कोई कहे कि भई ! अमुक प्रकारसे हमारी सेवा करो उसपर भी अपना मन लगा देता है बीचमें। कोई बोले, उन्होंने बताया है न ! यह ठीक होगा। वह तो आज्ञासे भी परेकी चीज हो गई। किसीको आज्ञा देनी पड़े सेवा करानेके लिये तब वैसी सेवा कर सके यह आज्ञाकारी सेवक है। दूसरे किसीको और आज्ञाकी आवश्यकता नहीं जबानसे नहीं बोलना पड़ता, संकेत पाकर उसीके अनुसार आचरण करता है वह संकेतदर्शी सेवक। तीसरा वह जिसके लिये संकेत नहीं आवश्यक होता है। वह रुचि पहचान गया, सेव्यकी रुचि उसको हृदयंगम हो गयी, सेव्यको कब क्या रुचिकर होता है यह वह जान गया तो वहाँ रुचिका अनुसरण करनेवाला जो सेवक है वह रुचि अनुसारी होता है। यह उससे ऊँचा और चौथा वह है सर्वोत्तम सेवक जिसके मनमें सेव्यका मन उतर आता है। सेव्यको अपनी बात जनानी नहीं पड़ती अपनी आज्ञासे और जना सकता है नहीं। मनमें हमारे कब, क्या, किस प्रकारकी कल्पना होती है उसको बतानेके लिये भाषामें शब्द नहीं हैं।

मनकी भाषा जब शब्दकी भाषामें आती है तो विकृत होकरके आती है। पूरी—पूरी चीज मनकी वाणी बता नहीं सकती। मनकी भाषाको समझनेवाला होता है मन और वह मन जबतक अपना न हो तबतक नहीं समझमें आता। श्रीरामचरितमानसमें सीताजीको प्रेम तत्त्व बतलाते हैं श्रीरामचन्द्रजी तो यही बात कहते हैं। हनुमानजीसे पूछा मैयाने कि सरकारने मेरे लिये क्या कुछ संदेश कहलवाया है। बोले हैं ! कहलवाया है। क्या संदेश कहलवाया है ? एक अर्धालीमें सारे प्रेमके स्वरूपकी पूरी—पूरी व्याख्या कर दी गोस्वामीजीने, इतने चतुर हैं। रामजीने क्या कहलवाया सीताजीसे, बतलाया—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु दोरा । जानत प्रिया एकु मन मोरा ।

सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीति रसु एतनेहि मांहीं ।।

तेरे और मेरे प्रेमके तत्त्वको जानता है केवल मेरा मन । वाणीसे नहीं कह सकते भगवान् । सीताके साथ रामके प्रेमका स्वरूप क्या है ? रामकी वाणीमें सामर्थ्य नहीं है कि उसका वर्णन कर सके । रामकी वाणी, रामके हृदयके प्रेमका वर्णन नहीं कर सकती । तो कहे कि आप अपने मनकी बात बताओ ? कैसे हैं ? तो कहा वह मन हमारे पास है नहीं । 'सो मन रहत सदा तोहि पाहीं' । सदा, कभी हम भेज दें मनको सो नहीं । हमारा मन तो रहता है निरन्तर तुम्हारे पास । अब मनमें क्या है सो तुम जान लो । 'मन्मनोगतम्..... जानन्ति तत्त्वतः' प्रेमका यह स्वरूप होता है ।

जहाँ प्रेमका वास्तविक प्राकट्य होता है वहाँ प्रेमास्पद और प्रेमीका मन एकमेक हो जाता है । उसका मन उसमें जाकर अवतरित होता है । मनकी बात बतानी नहीं पड़ती, मनकी बातका स्वरूप पूरा-पूरा मन जान लेता है । नहीं तो क्या होता है कि मनमें एक बात आयी उसके लिये शब्दोंकी योजना की, रसनासे शब्द बने आकाशके शब्द—शब्दोंकी ध्वनिका उच्चार हुआ जिहासे वो शब्द व्यक्त रूपमें बाहर आये । वह श्रोताके कर्णेन्द्रियमें गये, कर्णेन्द्रियके द्वारा मनमें गये और संकल्प-विकल्पके साथ मन उन शब्दोंको बुद्धिके पास ले गया तब बुद्धिने उसका अर्थ बताया । अब इतना कोशिश करनेके बाद उसके मनकी बातका अभिव्यक्तिकरण हुआ सुननेवालेके मनमें । अब इतनी जगह होता हुआ कोई तार कहीं जाय तो न मालूम कितनी विकृति हो सकती है । इसलिये मनकी भाषाका ज्ञान वहाँ होता है जहाँ मन उसके पास होता है । भगवान् कहते हैं कि गोपिकाओंका जो मन है, शरीर है—यह शरीर मेरे लिये है, मेरा है । इसलिये उनके मनमें मेरे माहात्म्यकी, मेरी सेवाकी, मेरी श्रद्धाकी, मेरे मनोगत भावोंकी पूर्णतया अभिव्यक्ति तत्त्वसे होती है । अन्य लोगोंकी कल्पनासे होती है । यही अन्तर है । अच्छी-से-अच्छी कल्पना कर सकते हैं पर वही मनकी बात है यह कैसे पता लगेगा । तो तत्त्वतः अभिव्यक्ति जो है वह प्रेमास्पदके मनकी प्रेमीके मनमें होती है । भगवान् जो है वे कितने ही किसीके प्रिय हों और कोई कितना ही भगवान्का प्रिय हो, भगवान्को प्रिय मानता हो पर भगवान्का मन बिना प्रेमसे अपने मनमें उतरता नहीं इसलिये उपलब्धि नहीं होती । गोपियोंकी भाँति भगवान्का प्रिय तीनों जगत्में दूसरा कोई नहीं ।

इसलिये यह प्रेमकी थोड़ी बहुत भेदकी बात माननी पड़ती है । यह प्रेम, प्यार विषयासक्त जीवोंमें भी है और प्रेम वहींसे आता है जहाँ प्रेम है तथा

भगवान्‌के भक्तोंमें भी है, कृष्ण—भक्तोंमें भी है पर जो बहिर्मुख जीवोंका प्रेम है वह स्त्री—पुत्र, परिजन, विषय—वैभव इन्हींमें सीमित है। जिन विषयोंसे उसे सुख मिलता है, विषय विनाशी है फिर भी उन्हींमें उनका प्रेम सीमित है। पर प्रेमीका प्रेम मात्र एक भगवान्‌में है। विषयीके प्रेमका मूल कारण क्या है ? अपनी सुखाकांक्षा। यह समझनेका विषय है। विषयी किसी वस्तुसे प्रेम करता है—चाहे धनसे करे, जमीनसे करे, मानसे करे, मकानसे करे, आदमीसे करे, परिस्थितिसे करे परन्तु बहिर्मुख विषयी जीवके प्रेमका मूल कारण है—स्वसुखकी आकांक्षा। इसके द्वारा मुझे सुख मिले। श्रीकृष्णके भक्तमें यह आत्मसुखकी कामना होती नहीं और आत्मसुखके लिये वे श्रीकृष्णसे प्रेम नहीं करते। श्रीकृष्णका सुख—विधान ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। यह बड़ा भेद है।

भगवान्‌के प्रेमी भक्तके प्रेमका मूल कारण है भगवान्‌का सुख—विधान। प्रेमास्पद भगवान्‌को सुख पहुँचाना और विषयी लोगोंके प्रेमका मुख्य कारण है एकमात्र विषयोंके द्वारा स्वसुख प्राप्त करना। इस प्रकार प्रेम तो दोनोंमें ही है पर प्रेम दो श्रेणियोंमें विभक्त है। इसीलिये स्त्री—पुत्रादि विषयोंमें प्रेमका नाम है काम और भगवान्‌में प्यारका नाम है प्रेम। प्यार दोनोंमें ही है पर वहाँ काम है स्वसुखकी वांछा है, और यहाँ प्रेम है सुखदानकी वांछा। यह है प्रेम और कामका अन्तर। जहाँ दूसरेके द्वारा हम सुख चाहते हैं, चाहे हम उसको प्रेम कहें पर वह काम है और जहाँ अपना सब कुछ अर्पण करके उसे सुखी बनाना चाहते हैं उसका नाम प्रेम है और वह जब भगवान्‌में हो तब असली प्रेम होता है।

आत्मेन्द्रिय प्रीति—इच्छा तार नाम काम।

कृष्णेन्द्रिय प्रीति—इच्छा धरे प्रेम नाम।।

यह चैतन्य महाप्रभुके जीवनमें है। आत्मेन्द्रिय—अपने इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी जो इच्छा है उसका नाम काम है चाहे भगवान्‌से ही हो। और भगवान्‌के इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी जो इच्छा है उसका नाम है प्रेम। नारद—पाञ्चरात्रमें प्रेमका लक्षण बताते हुए कहते हैं—

‘अनन्य भमता विष्णो ममता प्रेमसंगतः’ किसी वस्तुमें ममता न रहकर एकमात्र भगवान्‌में ममता रहे तो जो यह ममता है उसका नाम प्रेम है।

यहाँपर विचार करनेपर ऐसा मालूम होता है कि सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें एकमात्र उसीमें प्रेम हो सके। ऐसी कोई दूसरी वस्तु जगत्‌में है ही नहीं। एक भगवान् ही ऐसे हैं।

चाहे कुछ भी नाम हो। क्यों है ? इसलिये कि कोई चाहे किसीसे प्यार क्यों न करे उसके द्वारा सब प्रकारके आकांक्षाओंकी पूर्ति होती नहीं है। जगत्में कोई ऐसा प्राणी, पदार्थ, जीव, परिस्थिति है ही नहीं जो सारी आकांक्षाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ हो एक साथ। इसलिये जितने भी प्रेम करते हैं, विषयासक्त जीवोंका प्रेम कहींपर हो, वह प्रेम होता ही नहीं। एकमें हो नहीं सकता। एकमें प्रेम किसीको अगर करना हो तो केवल भगवान्में होता है और कहीं होता नहीं। अनन्य प्रेम भगवान्में ही होगा और कहीं होगा ही नहीं। कहते हैं कि अलग-अलग प्रेम करनेसे अलग-अलग सुखकी प्राप्ति होती है। मकानसे प्रेम करेंगे तो रहनेको मिलेगा, खानेकी वस्तुसे प्रेम करेंगे तो जीभकी तृप्ति होगी, स्वाद आवेगा, बल आवेगा। स्त्री-पुत्रसे प्रेम करेंगे तो वे सेवा लेंगे बदलेमें प्रेम करेंगे। यह नहीं कि एकमें प्रेम करनेसे सब चीजोंकी पूर्ति हो जाय। यह तो छः प्रकारके ऐश्वर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं जिनमें एक जगह सभी चीजें पूरीसे भी अधिक अनन्त मिल जाय। किसीको ज्ञान चाहिये तो ज्ञान ले लो, वैराग्य चाहिये तो वैराग्य ले लो, यश चाहिये तो यश ले लो, श्री चाहिये तो श्री ले लो, शौर्य, वीर्य चाहिये तो वह ले लो। इसलिये एक प्रेम भगवान्में ही होता है और किसीमें होता नहीं। भगवान्ने यह आज्ञा की है अर्जुनको कि, भाई ! तुम हमहींसे प्रेम करो।

मन्मना मव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (गीता १८। ६५)

भाई ! तुम प्यारे हो न हमारे इसलिये तुम निरन्तर मेरेमें मन लगाओ, मेरी सेवा करो, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो। तुम मेरे परम प्रिय हो। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम इस प्रकार करनेसे मेरे हो जाओगे, मुझको ही पा जाओगे।

अज्ञानी जीव करता है निरन्तर विषय-चिन्तन। विषय कार्य और विषयोंका दासत्व यह उसके पल्ले पड़ता है। इससे किसी प्रकारकी दुःख-निवृत्ति होती नहीं है यद्यपि उसका हेतु दुःख-निवृत्ति है। विषय सेवन करता है मनुष्य दुःखकी निवृत्तिके हेतु ही परन्तु उससे चिन्ता, शोक, भय उसे प्राप्त होते हैं। दुःख-निवृत्ति होती नहीं है। इसलिये जो विज्ञान हैं, समझदार लोग हैं वे इन सब चीजोंसे ममता निकाल करके और भगवान्में समर्पण करके दुःख मुक्त हो जाते हैं।

न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां हि विधियते।

जन्म मृत्यु जरा व्याधि विमुक्तास्ते न संशयः ॥

जो भगवत्गण हैं वे कभी कर्माधीन होकरके जन्म ग्रहण नहीं करते। भगवान्‌के भजनके बलसे जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि उनके अपने-आप विवर्जित हो जाते हैं। इसलिये जो लोग भगवान्‌को अपना प्रेम समर्पित कर सकते हैं वे ही प्रेमकी एकनिष्ठाको प्राप्त होते हैं और वे ही कृतार्थ होते हैं। तो भगवान्‌के प्रति प्रेम-समर्पणके सम्बन्धमें विचार करनेपर यह मानूम होता है कि जीवमात्रमें ही अहं-मम् भाव है। उसमें अहंता और ममता है ही। किन्तु जो बहिर्मुख जीव हैं वे असली 'मैं' को 'मैं' नहीं कहते। और असली मेरा है उसको मेरा नहीं कहते। वे जडको देखते हैं तो 'मैं' इसको कहते हैं और इसके सम्बन्धी जो स्त्री-पुत्रादि पदार्थ हैं उनको कहते हैं मेरा। यह देहमें अहं-बुद्धिका नाम अज्ञान है और देहकी अनुकूल सुखकर स्त्री-पुत्रादिमें ममता बुद्धिका नाम काम है। अज्ञान और कामसे अभिभूत जीवको मिलता क्या है ? निरन्तर दुःख-दैन्य, व्याधि, भय-विषाद, शोक-पीड़ा, जन्म-मृत्यु यह उनके भाग्यमें प्राप्त होते हैं। तो जिससे यह प्राप्त हो उससे प्रेम काहेका है। इस प्रकार पशुवत जीवनको बिताते-बिताते कभी किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यसे अगर कहीं असली 'मैं' को जान ले, असली 'मेरे'को जान ले तो सच्चिदानन्दभय भगवान्‌को वह कहता है मेरा और भगवान्‌का जो अपना है--सेवक उसे कहता है मेरा। तो--

एकेहि भूतात्मा भूते भूतो विवस्थितः।

एकधा बह्वा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥

यह भगवान् इस प्रकारके हैं। एक ही भगवान्। जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलपात्रोंमें प्रतिबिम्बित होकरके अनेक दीखते हैं और आकाशकी ओर देखनेवालेको एक दीखते हैं इसी प्रकारसे देह-दृष्टिसे मैं की अनन्तता है और जो सर्वगुणसुलभ भगवान्‌को देखते हैं उनमें मैं की एकताकी उपलब्धि होती है। बहिर्मुख जीव जो हैं वे देहको 'मैं' कहकरके रहते हैं। उनकी भ्रांत धारणा कभी मिटती नहीं है। उनके लिये सुखकर क्या है--विषय भोग। मकान, जमीन, व्यापार, स्त्री, पुत्र, मकान, वाहन, कीर्ति, यश, मान, पूजा यह जो है इनमें उनकी मति रहती है। इसीमें वे ममता-बुद्धिका पोषण करते हैं। इन्हींको बटोरते हैं, इन्हींकी रक्षामें रहते हैं। इसके बटोरनेमें रोना, रक्षामें रोना और विनाशमें रोना; यह उनके हाथ लगता है। जो किसी जन्मान्तरीय सौभाग्यसे,

पुण्य—बलसे, सन्तकृपासे जो ज्ञानयोगके मिलन—स्वरूप सारे आत्माओंके आत्मा भगवान्को अहम् समर्पण करके देहमें अहंकार जनित महादुःखसे छूट जाते हैं वे वारतवमें भाग्यवान् हैं। उनकी इन वस्तुओंमें ममता नहीं रहती है और जो भक्तियोगकी साधनामें निरत होकर स्त्री—पुत्रादि, वित्त आदिमें फँसी सारी ममताको सब जगहसे हटाकर एक मूलस्वरूप भगवान्में नियोजित कर देते हैं वे भगवान्के प्रेमानन्द सागरमें निमग्न हो जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्यपूर्ण जीव रति करता है पापमें, मति रखता है पापमें, गौरव बोध करता है पापमें। इसलिये वह मायाहत बुद्धि आसुर—भावापन्न दुष्कृति परायण मूढ़ नराधम भगवान्के शरणापन्न होता नहीं।

भगवान् कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।। (गीता ७। १५)

यह बहिर्मुख जीव अनादिकालसे जन्ममें अभ्यस्त हैं, देहमें अहम्बुद्धिमें अभ्यस्त हैं, देहके सम्बन्धी पदार्थमें ममता बुद्धिसे यह अभ्यस्त हैं इसलिये बेचारे दुःखमें ही पड़े रहते हैं। यह अच्छे संगमें आ जायें, महासौभाग्य जब इनका जागे। सौभाग्य और दुर्भाग्यका यहाँपर भेद होता है जो विषयोंमें, भोगोंमें, वैभवमें, वित्तमें, स्त्री—पुत्रादिमें, मान—यशमें जो सौभाग्य मानता है वह महान् दुर्भाग्यपूर्ण है और इन सबमें जिसकी ममता बुद्धि हट जाती है और जो अपनी ममताको भगवत् चरणोंमें समर्पण कर सकता है वह महासौभाग्यवान् है इसमें कोई संदेह नहीं। सौभाग्य सबको नहीं मिलता; कोई—कोई इस सौभाग्यको प्राप्त होते हैं। बहुत थोड़े जीव ऐसे होते हैं जो भगवान्को सर्वस्व मानकर अहंका समर्पण करते हैं। अहंको ब्रह्ममें स्थापित कर देनेवाले और ब्रह्मको मैं माननेवाले 'ब्रह्मोवाहम्' और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारकी सत्य अनुभूति करके ब्रह्मानन्दमें निमग्न होनेवाले बहुत थोड़े जीव होते हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ हैं। कोई संदेह नहीं। यह बहुत ऊँची स्थिति है। परन्तु जो भगवान्में ममता समर्पण करके, भगवान्को मेरा मानकर, उनको प्रेमदान दे सकते हैं उनकी संख्या तो इनसे भी बहुत अल्प है।

आत्माराम—आत्म—साक्षात्कार किये हुए, ब्रह्मको अपना स्वरूप माननेवाले महात्मा बहुत दुर्लभ है। बड़ी ऊँची स्थिति है। बहुत थोड़े होते हैं जो अपनी ममता भगवान्के अर्पण कर दे। भगवान्को मेरा जो अनुभव कर सके ऐसे प्रेमी भक्तोंकी संख्या बहुत कम है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिश्वपि महामुने । ।

(श्रीमद्भा० ६। १४। ५)

देहमें अहम् बुद्धि विहीन ब्रह्मज्ञान सम्पन्न सिद्धोंमें भी श्रीनारायण सेवनपरायण प्रशान्तचित्त पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। असंख्य मुक्तोंमें इस प्रकारके भाग्यवान् कोई एकाध ही मिलते हैं अधिक नहीं मिलते।

इसलिये यह स्वरूपानन्द वितरण रूप जो रमण है भगवान्का; यह ऐसे भक्तोंमें ही होता है। भगवान्में ममता समर्पण करके भगवान्को मेरा बना लेना, मेरा अनुभव करना, यह अत्यन्त दुर्लभ है। देहादिकमें अहम्—मम् भावकी पीड़ासे जब घबरा जाता है आदमी तब वैराग्यका उदय होता है और तब वह आत्मस्वरूपकी उपलब्धिके लिये साधन करता है। विषय—भोगकी कामना वह छोड़ देता है क्योंकि उसमें पीड़ाका अनुभव हुआ। इस कामनाको ही शास्त्रकार कहते हैं 'भुक्ति—काम'। यह समझनेका विषय है। मुमुक्षुमें क्या होता है ? मुमुक्षु बन्धनजनित दुःखका अनुभव करता है। नहीं तो मुक्तिका कोई स्वारस्य नहीं। छुटकारा किसका ? जो बँधा हुआ है उसका। बन्धनका जो दुःख है, यही मुक्तिकी कामनाको उत्पन्न करता है। जब संसारके दुःखोंसे संतप्त हो जाता है मनुष्य, जब भोगते—भोगते कहीं भी उसको शांति नहीं मिलती; तब एक ऐसा जीवनमें क्षण आता है। सबके नहीं आता किसी—किसीके ऐसा सौभाग्यका क्षण आता है जब विषयमें विरागकी उत्पत्ति होती है। विषय बुरे लगते हैं कि इनमें तो फँसना ही फँसना है, दुःख ही दुःख है। तब उसके मनमें उससे छूटनेकी कामना होती है। इसका नाम है 'मुक्ति—कामना'। पर जो मुक्तिकामी हैं वे मुक्तिकी कामना तो करते हैं पर भगवान्में ममता समर्पण करना उनका काम नहीं है। ममता समर्पण वे नहीं कर सकते। वे तो दुःखसे निवृत्त होनेके लिये, बन्धनसे मुक्त होनेके लिये मुक्तिकी कामना करते हैं और वे आत्म—साक्षात्कार करके मुक्त हो जाते हैं। बड़ी ऊँची स्थिति है। उनके मनमें लौकिक भोग—कामना नहीं रहती। उनके मनमें लौकिक सिद्धि—कामना नहीं रहती। क्योंकि वह महात्मा लोग लोक—परलोकमें दुःख—दैन्यादिका अनुभव कर लेते हैं। इसलिये वे महात्मा मुक्तिलाभके लिये प्रयत्न करते हैं और मुक्ति प्राप्त करके आत्मरमण करते हैं। यह बिल्कुल सच्ची बात परन्तु लाख चेष्टा करनेपर भी भगवान्में ममता समर्पण करके वे कहीं प्रेम—सागरमें बहने लगेँ यह नहीं होता। इसीलिये भगवान् शंकरके वाक्य हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।

तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

जब भोग और मोक्षकी स्पृहा रूपी पिशाची जीवके हृदयमें वर्तमान है, जागरूक है तबतक प्रेमसुखके आरन्वादनका अवसर ही नहीं आता । तो चैतन्य भगवान्‌के जीवनमें आया कि

भुक्ति—मुक्ति—आदि वाञ्छा यदि मने हय ।

साधन करिले प्रेम उत्पन्न ना हय ॥

(चैतन्य चरितामृत २। १६। १५०)

भुक्ति—मुक्तिकी वांछना यदि मनमें वर्तमान होती है तो साधना करनेपर प्रेम उत्पन्न नहीं होता । ज्ञान मिल जायेगा । भगवान्‌के गुण, लीला श्रवणसे जिनका चित्त भगवान्‌के गुणोंपर मुग्ध हो गया और किसी प्रकार भी कोई विवेचना न करके, तर्क न करके, इसमें क्या लाभ होगा, इसमें क्या हानि होगी—इस प्रकार सोच—विचार न करके जिसका चित्त भगवान्‌की सेवा प्राप्तिके लिये व्याकुल हो गया, भगवान्‌को अपना बनानेके लिये जिनका जीवन मचल उठा । ऐसे एकमात्र वही लोग हैं जो सारी ममता भगवान्‌को अर्पणकर सकते हैं नहीं तो कुछ—कुछ रख लेते हैं ।

अगर बोलें ! इनको सुखी बनानेसे अपनेको सुख हो जायेगा । तो अपने सुखकी ममता रह गयी । और अपने सुखकी जबतक ममता है चाहे किसी वस्तुमें नहीं हो । अपने सुखकी भावनामें यदि ममता है तो ममताका पूर्ण समर्पण हुआ नहीं । यह तो तब होता है जब सेवा प्राप्तिके लिये चित्त व्याकुल हो जायेगा । हमारा तो उनकी सेवाके लिये ही सब कुछ है । सेवा प्राप्तिके लिये जब चित्त व्याकुल होता है तब सेव्यका सुख सामने आता है । तब सेव्यके सुखके लिये ममताका समर्पण पूरा होता है । ऐसे जो भगवान् जीव हैं वे सब प्रकारकी ममता समर्पण करके प्रेमरसमें निमग्न रहनेका सौभाग्य प्राप्त करते हैं । ऐसे भाग्यवान्‌में न तो भुक्तिकी वांछा रहती है और न मुक्तिकी और न सिद्धि लाभकी अथवा देह—देहादिकमें आवेश जनित महादुःखकी । देहमें और दैहिक पदार्थोंमें जो आवेश जनित दुःख है इसको सुख मान रखा है । देहमें और देहादिक पदार्थोंमें जो आवेश जनित भाव है यही महादुःख है । सारे दुःखोंका जन्म यहींसे होता है । इस ओर नहीं देखते हैं इसको सुख मान लेते हैं । लेकिन जो भाग्यवान् व्यक्ति हैं वे कहते हैं कि भई ! हमको इसकी परवाह नहीं । हमको चाहे जो बना दो । विद्यापतिने एक पदमें कहा है बड़ा

सुन्दर कि—

यह मानुष पशु पांखी जन्मे अथवा कीट—पतंग ।

कर्म विपाके गतागति पुन पुन मतिहुत्वा प्रसंग ॥

यह मैथिली भाषामें है। कहते हैं कि प्रेमास्पद भगवान ! हमें इस बातकी चिन्ता नहीं कि जन्में, मनुष्य बने, पशु बने पक्षी बने अथवा कीट—पतंग बने अथवा कर्मके विपाकसे बारम्बार हमारा आना जाना होता रहे परन्तु हमारा मन तुममें लगा रहे, बस। हमारा मन तुममें लगा रहे और गति—वृत्ति कुछ भी हो। इस प्रकारके जब मनोगत भाव होता है तब प्रेम सच्चा। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

कुटिल करम लैं जाहि मोहि जँह जँह अपनी बरिआई ।

तँह तँह जनि छिन छोह छँड़ियो, कमठ अँडकी नाई ॥

(विनय पत्रिका/१०३)

इस प्रकारसे जो भगवान्को अपना सर्वस्व अर्पण करके, सारी ममता उन्हें देकर श्रीभगवान्के चरण—सेवाकी आकांक्षा ही जो रखते हैं उनके इस प्रकारके चित्तकी जो गति है उसका नाम है 'शुद्धा भक्ति'। उसका नाम है 'निर्गुणाभक्ति', प्रेमाभक्ति। यह भक्ति रहती है श्रीगोपांगनाओंमें इसलिये इस प्रसंगमें यहाँपर श्रीकृष्ण भगवान्का रमण—रसास्वादन है—यह श्रीगोपांगनाओंमें स्वरूपानन्द वितरण है। यह यहाँ रमणका अर्थ है।

(६)

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

भगवान्की इस मधुरतम रासक्रीडामें लीला विशेष माधुर्यमयी है। ऐश्वर्य, वीर्यादि, षडविध महाशक्तिके निकेतन श्रीभगवान् गोपियोंके परम प्रेममें आत्महारा—अर्थात् अपनेको खोकर—अपनेको भूलकर और अपने समस्त ऐश्वर्यको भूलकर गोपरमणियोंकी वासनाके अनुरूप लीलामें प्रवृत्त हुये। भगवान् यदि अपनी भगवत्ताकी बात याद रखकर सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता आदि शक्तियोंका प्राकट्य करके लीला करते तो इस लीलामें इतना माधुर्य नहीं रहता। वे स्वयं अपने सब प्रकारके ऐश्वर्यको भूलकर श्रीगोपांगनाओंके प्रेमाधीन होकर लीला करनेमें प्रवृत्त हुये। इसीलिये यह लीला सर्वलीला मुकुटमणि कहलायी और सबके द्वारा समादृत हुई, प्रसिद्ध हुई। इस लीलामें

गोपियोंने अखिल ब्रह्माण्डपति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको अपने प्राणवल्लभके रूपमें माना और मधुर रसोचित विविध विहारोंके द्वारा उनका आनन्दवर्धन किया और प्रेमाधीन भगवान् भी अपने ऐश्वर्य आदिकी बात भूलकर गोपीजनवल्लभरूपमें ही लीलामें अभिनय किये। अतएव इस लीलामें गोपियोंको श्रीभगवान्के स्वरूप और ऐश्वर्यादिके अनुसंधानकी आवश्यकता नहीं हुई और भगवान् भी अपने स्वरूपके अनुसंधानसे रहित होकर लीला करने लगे। यहाँ गोपियोंका प्रेम भी अपने आपको भुला देनेवाला और भगवान्की प्रेमाधीनता भी अपने आपको भुला देनेवाली है। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि भगवान्की शक्ति कहीं चली गई हो। भगवान् इसमें अपने-आपको खो देनेवाले होकर भी लीलामें जब जहाँ जैसी शक्तिके प्राकट्यका अवसर आया वहाँ वैसे किया। इसीलिये कहींपर असमंजस नहीं हुआ।

श्रीभगवान् गोपियोंको बुलानेके लिये जब वंशीनाद करने लगे तो वह वंशीनाद चौरासी कोस व्रजमण्डलमें प्रतिनिनादित हुआ। परन्तु वह कानोंमें गया केवल उन गोपांगनाओंके जिनको बुलाया गया था। यह महाशक्तिका काम है। यह इतने ही कहकर रह जाते 'रन्तु मनश्चक्रे'। 'योगमायामुपाश्रितः' क्यों कहा? योगमाया अर्थात् भगवान्की निज शक्ति, स्वयं महाशक्ति उस शक्तिको प्रकट करके उन्होंने 'रन्तु मनश्चक्रे'—रमणकी इच्छा की जिससे उस शक्तिका जितना काम जहाँपर जो-जो आयोजन उसके लिये आवश्यक था वह सारे आयोजन उद्दीपनादि वन-शोभादि ये—सब-के-सब उस शक्तिके द्वारा अपने आप बनते रहे; भगवान्की बेजानकारीमें ही।

इसी प्रकार वंशीनादसे अपने आपको भूलकर श्रीगोपांगनाएँ श्रीकृष्णके निकट जानेके लिये जब द्रुतगतिसे—बड़ी तेजीसे अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलीं; उस समय पति, पिता, भ्राता इत्यादिने गतिरोध करनेकी चेष्टा की परन्तु महाशक्तिने वहाँ भी काम किया। गोपियाँ उसे जरा-सा भी न देखकर वंशीनादका अनुसरण करके चलीं किन्तु किसी भी गोपीके माताने, पिताने, पतिने, भाईने उनके साथ जानेकी चेष्टा नहीं की। किसीने किया हो तो बताओ? रोका लेकिन गये कोई नहीं। किसीने उनका अनुसरण नहीं किया। वे सब-के-सब वापस लौट आये। प्रत्यावर्तन किया सबने और रासक्रीडाके सम्पादनमें कहीं कोई आपत्ति नहीं आयी। न तो वंशीनादको किसी दूसरेने सुना कि आकरके उस बीचमें रस-भंग करते और न तो गोपियोंके चलनेपर

भी उनके साथ वहाँ तक आये। श्रीकृष्णकी जिस शक्तिके प्रभावसे, श्रीकृष्णके संकल्प और अनुसंधानके बिना ही; उनको बिना जनाये ही समस्त लीलाओंका सामंजस्य कर दिया। रासलीलामें उस अचिन्त्य महाशक्तिकी बड़ी आवश्यकता थी। इसलिये 'रन्तुं मनश्चक्रे' के साथ 'योगमायामुपाश्रितः' कहना आवश्यक हुआ।

जो योगमायाकी शक्ति है वह भगवान्के लीला—सम्पादनके लिये विविध अघटन घटना करती रहती है। परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजी महाराजने यह 'योगमायामुपाश्रितः' कहा। इस विशेषणके द्वारा भगवान्की अघटन घटनापटीयसी शक्तिरूपा योगमायाका उल्लेख करके इस लीलामें उनकी सामयिक प्रयोजनीयता, आवश्यकता, उपयोगिताका बखान किया। भगवान्की इस परम मधुर लीलारसका वक्तव्य शेष नहीं होता। ठीक-ठीक कहा नहीं जाता यदि 'योगमायामुपाश्रितः भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे' यह चीज नहीं होती। इसकी पूर्णता 'योगमायामुपाश्रितः' को लेकर ही हुई है। तो ऐश्वर्य, वीर्यादि, षडविध महाशक्ति निकेतन भगवान् अपनी योगमायाशक्तिका पूर्ण विकास करके तब 'रन्तुं मनश्चक्रे'—उन्होंने रमणकी इच्छा की। यदि योगमायाका प्रकाश नहीं होता और गोपांगनाओंसे रमणमें प्रवृत्त होते भगवान् तो दो चीज नहीं होती। श्रीगोपांगनाएँ अपने आपको खो नहीं सकती क्योंकि उन्हें न खोने देनेमें जो कारण है; वह सब उपस्थित हो जाते और भगवान्का रासक्रीडारूप रमण भी माधुर्यमय नहीं होता। और न ही उसमें विशेष शक्तिका प्रयोजन करना पड़ता—निर्वासन—निष्कासन आदिके लिये।

योगमायाशक्तिका विकास हो जानेसे गोपी प्रेममें अपनेको भुला देनेवाले भगवान् उस गोपी लीलारसके समाधानके लिये जहँ जो आवश्यकता हुई भगवान्की बिना इच्छाके ही, भगवान्के द्वारा नियुक्त उस योगमायाशक्तिने वह काम अपने आप कर दिया। सारा सामंजस्य हो गया नहीं तो असामंजस्य हो जाता लीलामें। कहते हैं कि यह आवश्यक है कि जब जैसी लीला करनी पड़ती है उसके अनुसार व्यवस्थापकको व्यवस्था पहले करनी पड़ती है। बिना व्यवस्थापकके काम चलता नहीं। यहाँ योगमायाने इस कामको किया। भगवान्ने भी यदि अपने परम मधुर रासक्रीडाके महोत्सवमें लगकर शक्तिको नहीं बुलाया होता तो एक आदमी जो व्यवस्थादि करे और रसास्वादन भी करे तो दो काम हो नहीं सकते। यदि घरका काम करनेवाला मालिकका काम भी करता रहे, आने-जानेवालोंको पूछता भी रहे उनका समाधान भी करता रहे

और कहें क्या करना है वहाँ जैसे बताये भी कि वहाँ चटाई बिछाओ, वहाँ दरी बिछाओ आदमी रखो, पानीका गिलास लाओ। इस प्रकार करता रहे तो दोनों काम बिगड़ जाते हैं। फिर वह आयोजन व्यर्थ हो जाता है। जिनको बुलाया उनसे बात न कर सकें और बात करनेमें मनु लगावे तो उधर व्यवस्था बिगड़ जाय। इसलिये इसमें यदि योगमाया शक्तिका प्राकट्य नहीं होता तो गोपी प्रेममें आत्महारा—अपनेको खो देनेवाले भगवान्की यह लीला असम्पूर्ण रह जाती। इसलिये भगवान्ने 'योगमायामुपाश्रितः' अर्थात् योगमायाको प्रकट किया। अब योगमाया आयी कहाँसे, तो आ गयी थी लीलाके पहले।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें जहाँ स्वयं भगवान्के आविर्भावकी कथाका वर्णन है वहींपर यह आता है कि दैत्यके भारसे आक्रान्त पृथ्वीके दुःखसे दुखित होकर जब ब्रह्माजी क्षीरसागरके तटपर गये और क्षीरशायी नारायणकी जब स्तुति की तो क्षीरसागरशायी भगवान्ने ब्रह्माको देववाणीमें कहा—

विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत् ।

आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥

(श्रीमद्भा० १०।१।२५)

इस बार स्वयं भगवान् पृथ्वीपर अवतीर्ण होंगे, स्वयं भगवान्। उनकी जो परमेश्वर्यशालिनी माया जिसके प्रभावसे सारा जगत् मोहित रहता है वह माया भी केवल ऊपर—ऊपरसे नहीं, भावसे नहीं—स्वयं अवतीर्ण होकर सारा प्रबन्ध करेगी। जब स्वयं स्वामी अवतीर्ण हो रहे हैं; स्वयं भगवान् तो स्वयं भगवती माया अवतीर्ण होकर सब प्रकारकी लीलाका सामंजस्य करेगी—कहीं स्वयं जाकर, कहीं अपनी प्रेरणासे, कहीं भावसे। इसके बाद स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पृथ्वी पर आविर्भूत होनेके पहले अपने अग्रज बलरामको देवकीके उदरसे आकर्षण करके रोहिणीके गर्भमें अवस्थापनके समय बोले—

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् ।

यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥

गच्छ देवि ब्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम् ।

(श्रीमद्भा० १०।२।६-७)

भगवान्ने आज्ञा दी कि योगमाया ! अब तुम जाओ। भगवान्ने जब यह जाना कि हमारे परम भक्त यादव कंसके द्वारा भौंति—भौंतिसे उत्पीड़ित हो रहे हैं और वे अब शीघ्र ही पृथ्वीपर अवतीर्ण होकर स्वयं सबका दुःख नाश करेंगे तो अपनी शक्ति योगमायाको ब्रजमें जानेका आदेश दिया। इससे भी

यह बात सिद्ध होती है कि श्रीकृष्णके अवतीर्ण होनेके प्रारम्भमें ही योगमायाशक्तिका कार्य आरम्भ हो गया। उसके बाद परम मधुर लीलामें जहाँ—जहाँ, जैसा—जैसा प्रयोजन हुआ उसी—उसी प्रकारसे योगमाया शक्तिका कार्य प्रकट होता गया। श्रीभगवान्ने ब्रजलीलामें वात्सल्य—सख्य रसास्वादनके बाद जब परम प्रेमवती व्रजरमणियोंके मधुर रसास्वादनका विचार किया, उसमें जब प्रवृत्त हुये तब योगमाया शक्तिका पूर्ण विकास कर दिया—**मुपाश्रितः** अर्थात् प्रकाश। भगवान्ने अपनी अचिन्त्य महाशक्तिको इशारा किया कि पूर्ण रूपसे प्रकट होकर इस लीलामें पूरा—पूरा, सारा—का—सारा जहाँ जो आवश्यक है उसको तुम ठीक करो। तो भगवान्ने अपनी रासलीलामें सब प्रकार अघटन—संघटन करानेके लिये अचिन्त्य महाशक्तिरूपा योगमाया शक्तिको प्रकाश किया। यहाँपर अब कई बातें मनमें उदित हो जाती हैं। जो इस रहस्यमें प्रवेश करते हैं उनके हृदयमें भगवान् नाना प्रकारकी अर्थकी भावना उत्पन्न करते हैं। शास्त्रोंमें प्रधानरूपसे दो प्रकारकी शक्ति—माया और योगमायाका वर्णन है। यों तो अनेक भेद हैं।

‘नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः’ (गीता ७। २५)

और

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (गीता ७। १४)

इन दो गीता—वचनोंमें योगमाया और माया; इन दो मायाओंके नाम आते हैं और उन दोनोंके कार्योंके परिचयमें भी कुछ विभिन्नता दिखाई पड़ती है। योगमायाके परिचयमें यह बात सामने आयी कि श्रीभगवान् योगमायासे समावृत हो जाते हैं इसलिये उन्हें सब नहीं जान पाते। किन्तु मायाका परिचय तो जाननेमें आता है। माया त्रिगुणमयी है और दुरत्यया है। योगमायाके लिये यह नहीं कहा कि यह गुणमयी है या दुरत्यया है। एकमात्र भगवान्के श्रीचरणोंमें जो शरणागत हैं वे ही उस त्रिगुणमयी दुरत्या मायासे उत्तीर्ण हो सकते हैं। भागवतमें भी इस प्रकारके शब्द आते हैं।

अपरयत्पुच्छं पूर्वं मायां तदपाश्रयाम् ॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।

परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥

(श्रीमद्भा० १। ७। ४—५)

वेद व्यासजी पूर्ण पुरुष स्वयं भगवान् और उनकी आश्रित मायाका

दर्शन करते हैं। जगत्के जीवगण इस त्रिगुणात्मिका मायासे अतीत होकर भी—इस मायाके प्रभावसे त्रिगुणात्मक देह—गेहादि—अभिमानमें बद्ध होते हैं और विविध प्रकारके दुःख—दैन्यादिको भोगते हैं। ब्रह्माजीने स्तुतिमें कहा—

को वेत्ति भुमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोत्तीर्भवत्तस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। २१)

हे अपरिच्छिन्न ! हे भगवान् ! हे षडऐश्वर्यशालिन् ! हे परात्मन् ! हे योगेश्वर ! तीनों लोकोंमें किसीके लिये भी आपकी लीलाका तत्त्व जान लेना सम्भव नहीं। क्योंकि आप कब कहीं किस प्रकार अपनी योगमाया शक्तिका विस्तार करके खेल करते हैं यह किसीके ज्ञानगम्य होनेकी चीज नहीं है।

इस प्रकार नाना स्थानोंमें माया और योगमायाका परिचय मिलता है और परस्पर कुछ विभिन्नता उसमें पायी जाती है। इस विभिन्नताकी ओर देखनेसे मायाका कार्य होता है श्रीकृष्ण—भजन—विमुख जीवोंपर असर करना और योगमायाका काम होता है भगवान्का कार्य सुसम्पन्न करना। भगवान्के कार्यको जो सम्पन्न करती है वह योगमाया; चाहे उनको ढक करके करें चाहे प्रकाश करके।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके सिद्धान्तानुसार—माया और योगमाया यह द्विविध नाम आते हैं।

मायामुग्ध—जीवेर नाहिं स्वतः कृष्ण ज्ञान। (चै० च० २। २०। १०७)

तथा

योगमाया चिच्छक्ति विशुद्ध सत्त्व परिणति ॥

(चै० च० २। २१। ८५)

मायामुग्ध जो जीव है उनको स्वयं श्रीकृष्णका ज्ञान नहीं होता। गुरुचरणाश्रित—भगवच्चरणाश्रित होनेपर भगवान्की कृपासे मायाका अपसरण होनेसे उनको ज्ञान होता है। कृष्णको पहचानते हैं। योगमाया भगवान्की चित् शक्ति है। यह विशुद्ध सत्त्वमें परिणित होकर भगवान्के साथ रहती है। भगवान्का काम करती रहती है। इसलिये यह दो नाम और इनके दो भेद हैं। इसके बाद इनके सम्बन्धमें बहुत अधिक और विवेचन है। भगवान्की लीलामें देखा गया है कि—

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः ।

वैष्णवी व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः ॥

(श्रीमद्भाग० १०। ८। ४३)

माँ यशोदाको पति पुत्रादिके ममता—पाशसे छूटनेके लिये प्रार्थना करते हुए देखकर सर्वनियन्ता सर्वेश्वर श्रीकृष्णने वैष्णवी मायाका विस्तार किया और उससे यशोदा मैयाका जो स्नेह था, पुत्रसे, वह सौ—सौ गुना और बढ़ गया। उन्होंने मुँहमें क्या—क्या देखा, सब बातोंको भूलकर वह कहने लगी कि न मालूम यह क्या इसके मुँहमें दीख गया। यह कहीं किसी असुरका काम तो नहीं; तो जल्दीसे गोदमें उठाकर स्तनपान कराने लगी कि मुँहमें कुछ होगा तो इस स्तनके दूधके द्वारा सारा—का—साश चला जायेगा। इन्होंने माताको मोहित कर लिया। किसलिये मोहित किया ? कि रसभंग न हो। भगवान्की इस लीलासे देखा जाता है कि उनके एकान्त भक्त और निरन्तर सेवा कार्यमें लगी हुई यशोदा मैया भी उनकी वैष्णवी मायासे मुग्ध हो जाती हैं और ब्रह्म मोहन लीलामें श्रीकृष्ण जब अपने आप असंख्य गोपबालक और गोवत्सरूप धारण करके गोष्ठमें क्रीडा कर रहे हैं तब एक दिन श्रीकृष्ण ही मानो द्वितीय मूर्ति बलराम बने हुए थे। भगवान्की दूसरी मूर्ति बलरामजी—संकर्षणजीने यह देखा कि ये ब्रजवासी, गायें और ग्वाले—गोपियाँ श्रीकृष्णकी उपेक्षा करके अपने—अपने बालकों और गोवत्सोंको इतना प्यार क्यों करते हैं ? नयी चीज इन्होंने देखी।

पहले हमेशा यह था कि गोपबालक जब घर आते श्रीकृष्णके साथ तो उनकी माताएँ उन अपने बच्चोंकी ओर तो देखती नहीं। वह तो बेचारे घरमें जाकरके कलेवा भाँगते तब कहीं जाकर मिलता उन्हें और श्रीकृष्णके साथ सब माताएँ प्रेम करने लगती और बछड़ोंकी ओर गायें नहीं देखती। अब बलदेवजीने देखा यह बड़ा आश्चर्य कि श्रीकृष्णकी ओर इतनी गायें नहीं देखती और मातायें नहीं देखती और अपने बालकोंको इस प्रकारसे लालन—पालन, प्रेम—प्रीति करने लगीं—यह क्या कारण है ? बलरामजीने सोचा कि ये आश्चर्यकी बात हो गयी क्योंकि ये ब्रजकी गायें और ये ब्रजकी गोपियाँ यह तो साधारण जीव हैं नहीं। यह तो बहिर्मुख जीव हैं नहीं; बहिर्मुख जीव यदि होते तो श्रीकृष्णका सानिध्य प्राप्त होता ही नहीं—यह सारी भगवान्की लीला।

अगर उस समयके ब्रजके जीव, यहाँकी गायें, यहाँके गोप, यहाँकी गोपियाँ, यहाँके पशु—पक्षी, यहाँकी भूमि—ये यदि मायिक होती और ये जीव यदि बहिर्मुख होते तो इनको भगवान्का सानिध्य प्राप्त होता ही नहीं।

बहिर्मुख जीव ही भगवान्को छोड़कर भोगोंसे, अपने पति-पुत्रोंसे प्रेम करते हैं। यह बहिर्मुखताका लक्षण है। जो अन्तर्मुख हैं उनकी सारी प्रीति, सारा प्रेम रहता है भगवत्-चरणोंमें समर्पित और जो बहिर्मुख जीव हैं उनकी वृत्ति, उनकी प्रीति, उनका स्नेह, उनकी आसक्ति रहती है घरमें, पुत्रोंमें, घरकी चीजोंमें, सामानमें, मकानमें, जमीनमें और जिनको सन्तान मानते हैं उनमें।

बलदेवजीने देखा कि ये तो बहिर्मुख जीव हैं नहीं। यह हैं तो भगवान्के सारे-के-सारे सेवक तो आज ये गायें और ये गोपांगनाएँ अपने बालकोंसे और अपने बछड़ोंसे प्रेम कैसे करने लगीं ? यह किसकी मायासे मुग्ध हैं। यह बलदेवजीके मनमें आया। क्यों यह शंका आयी ? इसलिये कि श्रीकृष्ण भक्त मायासे मुग्ध होते नहीं। यह बहिर्मुख जीव तो मायासे मुग्ध होते हैं और भगवान्के जो भक्त हैं उनपर यहाँकी माया चलती नहीं। अगर माया चल जाय तो भक्त ही नहीं। यह बड़ी सुन्दर यहाँकी चीज है। ब्रजके रहस्यको समझनेके लिये यह देखना है कि जो यहाँकी मायासे बद्ध है, जो यहाँकी मायाके वशीभूत है, जो यहाँके पदार्थोंमें, प्राणियोंमें आसक्ति-प्रीति रखते हैं वो मायिक जीव कृष्ण भक्त ही नहीं हैं। जो कृष्ण भक्त हैं वे इस मायासे मुग्ध होते नहीं। इस मायासे परे रहते हैं। क्यों ? चैतन्य महाप्रभुके जीवनमें है—

कृष्ण सूर्यसम माया हय अन्धकार।

जाहां कृष्ण ताहां नाहि मायार अधिकार।।

श्रीकृष्ण मानों सूर्य हैं और माया मानो घोर अन्धकार है। जहाँ कृष्ण है वहाँ मायाका अधिकार रहता नहीं। अगर मायाका अधिकार है तो कृष्ण वहाँ हैं ही नहीं। जिस जीवके जीवनमें, मनमें कृष्ण बस गये उस जीवके जीवनमें माया रहेगी नहीं और माया नहीं रहेगी तो बहिर्मुख जीवोंकी भाँति उनकी इन मायिक पदार्थोंमें प्रेम आसक्ति रहेगी नहीं। यह सिद्धान्त है। आज यहाँ यदि मायामुग्ध जीवोंकी भाँति इनमें जो मोह दीखता है आज तो मालूम देता है कि किसीकी मायासे ये मुग्ध है। तो मई ! ऐसी कौन-सी संसारमें माया है जो भक्तोंको मुग्ध करे ? सोच बलदेवजीने बस ! ध्यानमें आ गयी बात। यह सर्वेश्वर श्रीकृष्णकी मायासे मुग्ध हैं और उन्हींकी मायासे मैं भी मुग्ध हूँ। बस ! इसके बाद कुछ बोलनेकी बात नहीं। यह बलदेवजीके वाक्य हैं।

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी।

प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी।।

भगवान्की इस लीलापर विचार करनेसे यह देखा जाता है कि उनकी माया उनके चरणोंमें एका-न्त शरणागत और निरन्तर उनके सेवा-परायण रहनेवाले भक्तोंमें भी मोह पैदा कर देती है। तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान्की मायासे उनके चरणाश्रित और चरण-सेवन-विमुख दोनों प्रकारके लोग तो मायामुग्ध या मोहित होते हैं। तो मायाके दो रूप हुए—उन्मुख मोहिनी और विमुख मोहिनी। जो भगवान्के सन्मुख है उनको मोहित करनेवाली और जो भगवान्से विमुख हैं उनको मोहित करनेवाली। मायाकी दो वृत्तियाँ हुई—उन्मुखमोहिनी वृत्ति और विमुखमोहिनी वृत्ति। यह भगवान्की दो प्रकारकी माया है। दो प्रकारका भेद स्वीकार कर लेनेके बाद सिद्ध हो जाता है कि—मायामेतां तरन्ति ते—नामेव ये प्रपद्यन्ते (गीता ७। १४)

यह विमुख मोहिनी माया है।

तो भगवान्की यह माया किनको मोहित करती है ?

‘कृष्ण’ भूलि सेइ जीव, अनादि-बहिर्मुख।

अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥

(चै० च० २। २०। १०४)

श्रीकृष्णको भूलकर अनादिकालसे यह जीव बहिर्मुख हो रहा है। इसीसे यह मायामें आबद्ध होकर संसारके दुःखोंमें पड़ा रहता है लेकिन

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।

माया जाल छुटे, पाये कृष्णेर चरण ॥

(चै० च० २। २२। १८)

सीधी बात जो श्रीकृष्णको भजे और श्री गुरुके चरणोंका सेवन करे वह माया मुक्त हो जाता है। गुरु वह जो श्रीकृष्णके चरणोंमें लगा दे। नहीं तो गुरु होते हैं केवल भार। श्रीकृष्णके चरणोंमें जाते ही मायाका जाल छूट जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कृष्ण बहिर्मुख हैं वे ही नाना प्रकारसे मायासे पराभूत होते हैं और कृष्ण चरणका भजन करनेसे उनकी मायासे मुक्ति हो जाती है। किन्तु जो भगवान्के चरणोंमें शरणागत हैं एवं सेवा परायण हैं, उन लोगोंका इस विमुख मोहिनी मायासे कोई सम्बन्ध नहीं है। वे लोग जो हैं—भगवान्के चरणाश्रित भक्त वे सेवा करनेकी इच्छा करते हैं तो क्या होता है कि अपनी इच्छानुसार सेवा करानेके लिये भगवान् स्वयं उन्मुख मोहिनी मायासे उन जीवोंको मुग्ध कर लेते हैं। उनके सन्मुख हुए है न ? अब उनको मुग्ध करना और तरहका है। वे तो संसारमें फँसे और ये भगवान्में फँसे।

भगवान् अपनेमें उनको फँसा लेनेके लिये अपनी उन्मुख मोहिनी मायासे उनको मुग्ध कर लेते हैं। मुग्ध क्या करना है ? जैसे किसीने भगवान्को बेटा समझा—यह भी उन्मुख मोहिनी माया है यह भी नहीं तो वह चराचर जगत्पति जो स्वयं भगवान् नित्य सच्चिदानन्दघन हैं, उनको बेटा समझा। क्यों बेटा समझे ? क्योंकि लीला कार्यकी संगताके लिये उन्मुख मोहिनी मायाकी आवश्यकता हुई। किसीने बेटा समझा, किसीने सखा समझा, किसीने प्राणवल्लभ समझा और ठीक इन्हींके भावोंसे भगवान्के साथ व्यवहार किया। अगर यह माया बीचमें न होती, शक्ति न होती तो न कोई बेटा समझता, न बाप समझता और यह लीला होती ही नहीं। लीलाकी संगताके लिये उन्मुख मोहिनी लीलाकी आवश्यकता है। किसीके बेटे बन गये, किसीको बाप बना लिया। बेटा—बापमें योग शक्ति न हो—योगेश्वरका प्राकट्य न हो तो यह लीला सम्पन्न होती नहीं। इसलिये भगवान्ने उन्मुख मोहिनी मायासे अपने भक्तोंके प्रेमानुरूप उनकी सेवा ग्रहण करनेके लिये उनको मायासे मुग्ध किया और उनकी मनोवासनाको पूर्ण किया।

भगवान्की मायासे उनके चरणाश्रित और बहिर्मुख दोनों ही प्रकारके जीव मोहित होते हैं। इसलिये भक्तोंने, आचार्योंने और प्रेमी संतोंने यह कहा कि जो भक्त—मोहिनी माया है वह भगवान्की अन्तरंगा माया है और जो बहिर्मुख मोहिनी माया है वह भगवान्की बहिरंगा माया है। यह भगवान्की है दोनों ही माया। मायाके दो भेद हुए—एक अन्तरंगा माया, एक बहिरंगा माया। अन्तरंगा माया भक्तोंको अन्तरंगमें ले जाती है। भगवान्के रहस्यमय रंगमहलमें ले आती है। लीला क्षेत्रमें ले आती है और बहिर्मुख मोहिनी माया जो बहिरंगा माया है यह जगत्में भरमाती है और भगवान्में शरणागतिके बिना इस मायासे छुटकारा नहीं मिल सकता।

भगवान् अपने भक्तोंको अन्तरंगा मायासे मुग्ध करके उनके प्रेमानुरूप लीला करते हैं। उनकी मनोवासना पूर्ण करते हैं परन्तु रासलीलामें एक और विशेषता है। कहते हैं कि इस लीलामें भगवान् केवल अपने भक्तोंको ही मायामुग्ध करके लीलाके सौष्ठवको सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं हुए—इस लीलामें उन्होंने अपनेको भी मायामुग्ध किया।

मो—विषये गोपीगणेर उपपत्ति भावे।

योगमाया करिदेक आपन प्रभावे ॥ (चै० च० १।४।२६)

यह बड़ा सुन्दर भाव है। योगमायासे यह कार्य हुआ कि भगवान्ने

भी अपनेको कुछ और ही समझा—

अभिह ना जानि ताहा, न जाने गोपीगण।
 दोहार रूप-गुणे दोहार नित्य हरे मन॥
 धर्म छाडि रागे दोहे करये मिलन।
 कभु मिले, कभु ना मिले, दैवेर घटन॥
 एइ सब रसनिर्यास करिब आस्वाद।
 एइ द्वारे करिब सर्वभक्तेरे प्रसाद॥
 बजेर निर्मल राग शुनि भक्तगण।
 रागमार्गे भजे येन छाडि धर्म कर्म॥

(चै० च० १।४। २७-३०)

बड़ी सुन्दर भावना है कि अब उनमेंसे एक जानने वाला हो जाय, एक ज्ञाता हो जय और एक अज्ञान रहे तो वह ऐसी माया होगी जैसे समझदार आदमी बच्चोंके साथ बच्चोंकी-सी बात करे और वास्तवमें बच्चोंका-सा उसमें भाव रहे नहीं। उसमें जैसे दो बच्चे आपसमें मौजसे खेलते हैं—यह बात नहीं आती। सयाना आदमी बच्चा बनकर खेलता है। वह सयाना रहता है और बच्चोंकी भाँति चेष्टा करता है पर उस बच्चेके समान मन नहीं होता।

भगवान् यदि अपनेको भगवान् जानते रहें तो भगवान्को भगवान् न जाननेवाली गोपियोंके साथ भगवान्का रमण ठीक-ठीक रस-निष्पत्ति करनेवाला न होता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि न तो मैं जानता हूँ अपनेको, कि मैं कौन हूँ और न गोपियाँ जानती हैं अपनेको—आत्महारा वो और आत्महारा मैं। लेकिन दोनों दोनोंके रूप-गुणोंपर नित्य विमुग्ध हैं और दोनों ही लोकधर्म, वेदधर्म इत्यादिका परित्याग करके मिलन और वियोगके तटपर खेला करते हैं। भगवान् कहते हैं कि मायामुग्ध मैं और मायामुग्ध भक्त—यह दोनों ही मेरे अपने स्वरूप हैं। मैं ही मायामुग्ध भक्त हूँ और मैं ही मायामुग्ध भगवान् हूँ। क्योंकि यह लीला भगवान्के अतिरिक्त और कहीं हो ही नहीं सकती। कहीं और हो तो भगवान् भ्राम्य मुग्ध होते नहीं। यह एक ऐसी चीज है कि भगवान्का प्रकाश जहाँ आया वही माया हट जाती है। यह मायाका जो कार्य है यह वहींपर होता है जहाँ भगवान् नहीं है। भगवान् कहाँ नहीं है ? भगवान् क्यों नहीं है ? एक बहिर्मुख और एक सन्मुख हो तो काम नहीं चलता। इसलिये मायाको हटानेका कोई प्रश्न आवे ही नहीं। हम दो

रूपोंमें अपनी मायासे मुग्ध होकर अपने आप खेलते रहें। इस प्रकारसे यह भगवान्की लीला है। जो यह भगवान्की लीला है, इस लीलामें केवल गोपीजन ही मुग्ध नहीं हैं। जिससे गोपीजन मुग्ध हैं उसका नाम है भक्त मनमोहिनी माया और जिससे भगवान् स्वयं मुग्ध हैं यह है स्वमनमोहिनी माया। अब अन्तरंगा मायाके दो भेद हुए—एक भक्तमनमोहिनी और एक स्वमनमोहिनी। यह दोनों अन्तरंगा माया ही योगशक्ति है और यही सारे कार्योंको ठीक—ठीक करती रहती है। गोपियोंने जाना कि भगवान् उपपत्ति हैं। यह जाननेमें कोई आपत्ति नहीं क्योंकि वो तो अन्तरंगामायासे मुग्ध हैं और—

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविद्धृष्य तेऽन्त्यच्युतागताः।

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १६)

यह जो गोपियाँ हैं यह कहती हैं कि हम सबका परित्याग करके आपके समीप आयी हैं और भगवान् भी उनको सामने देखकर

जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥

(श्रीमद्भा० १०। २६। २६)

इत्यादि कार्योंसे विरत होनेका उपदेश करते हैं। अतएव भगवान् भी गोपियोंको परबधू ही जानते हैं। मायामुग्ध हैं नहीं; सब अपना ही रूप हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि श्रीरासलीलामें भगवान्की ही एक मात्र अनन्य अन्तरंग लीला होनेपर भी भगवान् समझकर ये चीज नहीं हुई। इसीलिये 'ज्ञानविद्धा संगता' आगे चीज आयेगी इस सिद्धिके लिये।

इसमें कुछ ऐसे विषय भी हैं कि उन सबको कहनेमें भी गड़बड़ होती है मनमें और खुलता भी नहीं है कहे बिना। कहते हैं कि निभृत—यमुना पुलिनपर गंभीर रजनीमें यह लीला क्यों होती है ? अगर यह भाव न होता भगवान्का तो यह लीला घरके आँगनमें खूब मजेमें होती। या वे इच्छा करते तो अपनी ऐश्वर्य शक्तिके प्रकाशके द्वारा रासलीला चाहे जैसे कर सकते थे। सब जगह वह अन्धकार फैला देते और कोई जान भी नहीं पाता। भगवान् यह सब न करके श्रीगोपांगनाओंके प्रेमानुरूप भावसे वह जैसे 'उप' मानती हैं इसी प्रकार 'पर' मानते हुए और स्वयं सर्वजगत्पति सर्वान्तरात्मा, जीव मात्रके नित्य आत्मा सबके अन्तरात्माके स्वरूपने 'उप'के भावसे 'उप' की तरहसे अति गोपन निभृत—यमुना—पुलिनपर रासक्रीडा की। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान्के साथ विविध मधुरोचित लीला—विहारादि करके उनका आनन्द वर्धन करनेके लिये ही गोपियोंको भगवान्ने मायामुग्ध किया और स्वयं भी मायामुग्ध हुये।

श्रीभगवान्ने भी गोपियोंकी प्रेमोचित सेवा ग्रहण करनेके लिये अपनेको मायामुग्ध कर लिया अन्यथा गोपियोंकी मनोभावोचित सेवा कभी नहीं होती।

इसलिये भगवान्ने अपनी मायासे आत्ममुग्ध होकर यह काम किया। बहिर्मुख जीवोंको मोहित करनेके लिये जैसे भगवान्की बहिरंगा माया और भक्तोंको मोहित करनेके लिये जैसे भगवान्की अन्तरंगा मायाका अस्तित्व सिद्ध होता है उसी प्रकार भगवान्को भी अपनी मायासे मुग्ध होते देखा जाता है और यह अन्तरंग मायाका ही एक स्वरूप है कि जिसमें भगवान् स्वयं मुग्ध हो जाते हैं।

'भगवानपि ता रात्री: योगमायामुपाश्रितः' इत्यादि श्लोकोंमें योगमायाका जो विशेषण दिया यह भगवान्की अभिन्न माया ही है। यह योगशक्ति है। इस मायासे मोहित होकर गोपियोंने सर्वजगत्पति भगवान्को 'उप' माना और भगवान्में भी गोपियोंके प्रेमके अनुरूप ही स्वयं सर्वात्मक होते हुये भी उनको 'पर' माना। श्रीपाद सनातनगोस्वामीजी, जीवगोस्वामी इत्यादि वैष्णवाचार्योंने योगमायाको यहाँ बताया अघटनघटनापटीयसी स्वयं शक्ति। जो भगवान्के इंगित पर ही भगवान्की इच्छाके अनुसार कार्य करती है। बस, उसीके द्वारा ये सारे काम हुये। नहीं तो यह काम हो नहीं सकते। भगवान्की यह लीला—रासलीला हुई योगमायाके प्रकाशमें, योगमायाके द्वारा। अघटन क्या हुआ इसमें ? अघटन क्या, जो कहीं कल्पना नहीं हो सकती, वह हुआ। भगवान्का मायामुग्ध हो जाना ही अघटन घटना है।

इसलिए भगवान् अपने ऐश्वर्य वीर्यादि महाशक्तिके द्वारा जो अघटन करते हैं वह घटना भगवान्को मोहित नहीं कर सकती। वह तो जगत्में अघटन घटना करते हैं। विश्वको बना दें, बिगाड़ दें, कुष्ठ भी कर दें। अघटन घटना हो जाय हमारी दृष्टिमें; उससे भगवान् मुग्ध नहीं होते। वह तो सावधान रहते हुये सब काम करते हैं परन्तु रासलीलामें यदि भगवान् स्वयं मुग्ध नहीं होते यदि वे जगत्पति होकर अपनी स्वरूपाशक्तिकी घनीभूतमूर्ति गोपरमणियोंके 'उप' सजकर लीला न करते तो इस अघटनघटनापटीयसी भगवान्की स्वशक्तिका प्रकाश नहीं होता। भगवान्ने अपनी मायासे मुग्ध होकर गोपरमणियोंमें 'पर' भावना करके निमृत्त यमुना—पुलिनपर रासक्रीडाका रसास्वादन किया। रासलीला श्रीभगवान्की आत्ममोहन लीला है।

मायाके तीन कार्य हुये—१—विमुखमोहन २—उन्मुखमोहन और ३—आत्ममोहन। यह रासलीला ही एक ऐसी है जहाँ भगवान्का आत्ममोहन देखा जाता है। तथापि रासलीला—सम्पादनके लिये यह नहीं कि यह नहीं

शक्ति बनी है। भगवान्की आत्ममोहिनी शक्ति उनमें वर्तमान हैं जब चाहें अपनेको मोहित कर लें जैसे चदर फास हो तो ओढ़कर सो जाय पर हमेशा ओढ़नेकी जरूरत न हो तो सुरक्षित रख दें। इसी प्रकार उनकी अपनी योगमाया है, अपनी आत्ममोहिनी शक्ति है। जब चाहें अपने आपको विमोहित कर लें। तो 'योगमायामुपाश्रितः' इसका अर्थ यह है कि ऐश्वर्यादि षडविध महाशक्ति निकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी अघटन घटना पटीयसी आत्मविमोहिनी योगमाया शक्तिके पूर्ण विकास करते हैं और अपनी अद्वितीय मुख्य स्वरूपा अभिन्न व्रजरमणियोंके साथ रासक्रीडा करनेकी इच्छा करते हैं। यह 'भगवानपि ता रात्रीः योगमायामुपाश्रितः'की अभिसंवादिनी व्याख्या है।

श्रीभगवान् अपनी मायासे स्वयं मुग्ध होकर ऐसी लीला करते हैं। यह बात सुनकर जो बहुत अधिक बुद्धिवादी लोग हैं वे शायद इसको ठीक कल्पना समझें। वह कहेंगे कि भगवान् अपनी मायासे आप मुग्ध हो जाय यह कोई कामकी बात नहीं, यह तो तो एक नयी कल्पना है लेकिन यह कल्पना नहीं है। मारकण्डेय पुराणमें, देवीभागवतमें आता है कि महाप्रलयके समय शेषशायी नारायण योगमायासे अभिभूत होकर शेषशाय्या पर सो गये—योगनिद्रासे अभिभूत हो करके। योगनिद्रा भगवान्को अचेतन करके निद्रामें रखे। यह क्या कोई दूसरी नींद है, मायाकी नींद है? यह भगवान्की शक्ति ही है—

विश्वेश्वरी जगद्धात्री स्थितिसंहारकारिणीम्।

निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः॥

(मारकण्डेय पुराण)

यह विश्वेश्वरी जगज्जननी संहारकारिणी भगवती विष्णु मायाका स्तवन करते हुए ब्रह्माजीने ऐसा कहा। शेषशायी नारायण जिस योग निद्रासे निवृत्त हुए वह उन्हींकी एक शक्ति थी। यह मानना पड़ेगा। महाप्रलयके समय अपनी शक्ति—योगनिद्रासे जो स्वयं निद्रित हो सकते हैं वे अपनी रासलीलामें अपनी शक्तिसे अपने आपको मुग्ध कर लें इसमें कौन ऐसी बड़ी बात। तुम कहते हो कि भगवान् ऐसा नहीं कर सकते तो भगवान्की शक्ति सीमित कर दी। बहिर्मुख जीवोंको अविद्या संसारबन्धनमें बद्ध करती है और योगनिद्रासे शेषशायी नारायणको निद्रित रखती है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह शक्ति भगवान्से बड़ी है। भई ! किसी स्वामीने दासीसे कहा कि देखो ! हम सोते हैं जरा और तुम हवा करो जिससे हमें नींद आ जाय और अमुक समय हमें जगा देना। तो नींद दिलाने वाली वो उनकी दासी है कि उनकी मालकिन

है। तो यह भगवान्की शक्ति। यही त्रिविधकार्य सम्पादन करनेमें विद्या-अविद्या और योगनिद्रा, विमुखमोहिनी और मक्तमोहिनी, उन्मुखमोहिनी और आत्ममोहिनीकी भूमिका है। यह माया है। भगवान्में विद्या सर्वत्र है। आदमी अविद्यासे भी विभोहित होता है। योगनिद्रा उनकी अपनी है जो वह काम करती है। तो मारकण्डेय पुराणमें है कि चित्स्वरूप श्रीभगवान्को जिस योगनिद्राने अचेतन किया वह भी अघटन घटना नहीं है। क्योंकि श्रीभगवान्की ऐश्वर्यादि षड्विध महाशक्तिमें कोई दूसरा अद्भुत कार्य संघटन हो जाय तभी वह अघटन घटना होती है तो भगवान् जो चित् स्वरूप हैं उनको अचेतन कौन करे ? उनको जो अचेतन कर सकती है वह भगवान्की अपनी लीला है, अपनी ही माया है। दूसरी कोई नहीं। इसलिये अचिन्त्य महाशक्तियोंको मानना पड़ता है। यही अचिन्त्य महाशक्ति ही योगमाया और उसीका यह सारा-का-सारा काम है।

इस प्रकार यह कार्य जानकर—एक बात और देख लेनी है कि शक्ति और शक्तिमान्में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है किन्तु शक्तिमान् और शक्तिमें आधार-आधेयके भावसे मुख्य और गौण भाव हैं अवश्य क्योंकि शक्ति ही शक्तिमान्के आश्रय रहती है और शक्तिमात्र ही शक्तिमान्की सेवा भी करती है। हमारी दर्शनशक्ति—देखनेकी शक्ति, हमारी श्रवण शक्ति—ये शक्तियाँ जैसे द्रव्य और श्रव्य वस्तुओंको दिखाकर और सुनाकर हमारी सेवा करती है, इसी प्रकार भगवान्की अनन्त शक्तियाँ उनके अनन्त कार्योंको सम्पन्न करती हुई उनकी सेवामें लगी रहती हैं। जैसे जगत्में दर्शनशक्तिहीन—जिसमें देखनेकी शक्ति नहीं, सुननेकी शक्ति नहीं, चलनेकी शक्ति नहीं—गमनशक्तिहीन, वाक्शक्तिहीन—बोलनेकी शक्ति नहीं, ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं। परन्तु कहीं बताओ कि व्यक्तिहीन दर्शनशक्ति हो। कहीं व्यक्तिहीन श्रवणशक्ति हो। माने व्यक्तिमें चाहे श्रवणशक्ति हो या न हो किन्तु व्यक्तिके बिना श्रवणशक्ति कहीं रहती नहीं। इसीलिये शक्ति और शक्तिमान्का तत्त्वतः भेद न होनेपर भी, दोनों एक होनेपर भी शक्तिमान् मुख्य है और शक्ति उसकी अपेक्षा गौण है।

भगवान्की योगमाया शक्ति जो भगवान्को मुग्ध करती है वह भगवान्से बड़ी नहीं है। भगवान्की ही शक्ति है। जो लोग केवल शक्तिको ही बड़ी कहते हैं वह शक्तिमान्को मूलकर शक्तिका प्राण ही निकाल लेते हैं। आधार ही नहीं रहेगा तो वस्तु रहेगी कहीं ? शक्तिमान् अगर न रहे तो शक्तिको दूँढ़ निकालना बहुत मुश्किल होगा। अतएव शक्ति और शक्तिमान्

तत्त्वतः अभिन्न होनेपर भी शक्ति ही शक्तिमान्के आश्रित है और यह माननेपर ही अनन्त शक्तिमान् भगवान्के लीलारस सिन्धुमें अयगाहन होना सम्भव है। नहीं तो ऊपर—ऊपर आदमी घूमता है और डुबकी नहीं लगाता है।

‘योगमायामुपाश्रितः’ इस श्लोकांशको देखनेपर यह मालूम होता है कि भगवान्ने योगमायाका आश्रय करके स्वरूपानन्दके साथ रमण करनेकी इच्छा की। अब योगमायाका आश्रय क्या ? जगत्में कोई भी असमर्थ व्यक्ति अपने किसी कार्यको सम्पन्न करानेके लिये किसी सक्षम समर्थ व्यक्तिका आश्रय करता है। क्या यहाँ भी वही बात है ? भई ! हम असमर्थ हैं तो किसी समर्थका आश्रय लें तो क्या यहाँपर भगवान्ने वैसा आश्रय लिया ? योगमाया भगवान्की शक्ति—यह भगवान्के आश्रित तो उसका भगवान्ने आश्रय कैसे लिया ? यह प्रश्न मनमें आ जाते हैं शब्दोंको देख करके। यहाँ योगमाया उपाश्रित है प्रकटीकृत। ‘भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे’ भगवान्ने योगमाया शक्तिको प्रकट करके रमण करनेकी इच्छा की। यहाँ इस वक्तव्यका यह भाव है : जैसे सूर्य अपनी किरणमालाको प्रकाशित करके पूर्व गगनमें उदय होते हैं और जिस ओर सूर्यकी गति होती है उसी ओर किरणमालाओंका प्रकाश जाता है। इसी प्रकार भगवान् भी अपनी योगमाया शक्तिका पूर्ण विकास करके गोप रमणियोंके साथ रमण करनेकी इच्छा की और इस रमणलीलामें जब जो जिस प्रकार प्रयोजन हुआ अघटनघटना पटीयसी अचिन्त्य महाशक्तिने उस कामको कर दिया। इसीलिये ‘योगमाया आश्रितः’ न कह करके ‘उपाश्रितः’ कहा। यहाँ उपाश्रित शब्दका अर्थ है पूर्णरूपसे प्रकट करना—प्रकाश करना—यश चक्षु आश्रित स्थितः—इस श्रुति वाक्यसे आश्रित शब्दका प्रकाश अर्थ होता है। सुतरां ‘योगमायामुपाश्रितः’ अर्थात् प्रकटीकृतः यह अर्थ इसका मानना चाहिये। यह बात समझमें आयी कि श्रीभगवान् ऐश्वर्य वीर्यादि षड्विध महाशक्तिके प्रकाशमें रासलीलाके माधुर्यकी रक्षा नहीं कर सकते। केवल ऐश्वर्य शक्तिसे उनका काम नहीं होता। इसलिये यहाँ योगमाया शक्तिका प्रकाश करना आवश्यक हुआ जो अघटनघटना घटा दे, जो भगवान्को मोहित कर दे तभी भगवान् आत्महारा—अपनेको खो सकें—अपनेको रखकर इस लीलाका माधुर्य नहीं कर सकते। उनको अपनेको खो देना आवश्यक था। ऐसा करके ही गोपियोंके प्रेमवशानुरूप लीला करके उनके मनोवासनाको पूर्ण करनेमें समर्थ हुये। भगवान्ने अपनी परम मधुर रासलीलाके सम्पादन करनेके लिये अपनी अचिन्त्य महाशक्तियोंको प्रकट किया और उसके सिवा

कुछ और भी विशेषत्व प्रकाशित हुआ यहाँपर। यह जो और विशेषत्व है यही एक मात्र 'योगमायामुपाश्रितः' इस विशेषण वाक्यके द्वारा सिद्ध है।

(७)

भगवानपि ता शत्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

यह रासप्रज्जाध्यायीका पहला श्लोक है। योगमायाका क्या अभिप्राय है इसको विभिन्न सन्तोंने विभिन्न प्रकारसे देखा और यह भगवान्की योगमाया है इसलिये सभीका देखना ठीक है। योगमायाके जितने अर्थ हैं वे सभी समीचीन हैं और सभी यहाँपर लागू होते हैं। भगवान्ने अपनी परम मधुर रासलीलामें जिस प्रकार अचिन्त्य महाशक्तिरूपा योगमायाका प्राकट्य किया उसी प्रकारसे इसमें अन्यान्य विशेषताएँ और भी हैं। थोड़ा-सा उसका रस और ले लिया जाय तो 'भाया दम्भे कृपायां च' वचनानुसार माया शब्दका अर्थ कृपा भी होता है। तो 'योगमायामुपाश्रितः' इस वाक्यका इसके अनुसार व्याख्या करें तो 'योगे आत्मना सह मिलने या माया कृपा तामुपाश्रिता भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे'—श्रीभगवान्ने श्रीगोपांगनाओंके साथ रमण करनेकी इच्छा की तब उन्होंने इस प्रकारकी कृपाको प्रकट किया कि जिससे श्रीगोपांगनाओंके अबाध-मिलनमें कोई बन्धन न रहे।

भगवान्के साथ मिलनेके लिये कोई साधन यदि है तो भगवान्की एकमात्र कृपा ही है। कोई मनुष्य कोई साधक यह चाहे कि भगवान्की कृपाको बाँधकर अपनी शक्तिसे हम भगवान्से मिल लेंगे तो यह सम्भव नहीं है। कितना ही साधन किया जाय और किसी भी योगका आश्रय लिया जाय परन्तु भगवद्दर्शन, भगवत् मिलन बिना भगवान्की कृपाके कभी सम्भव नहीं है। यह सच्ची बात है कि भगवान्में अपनी कृपा-वितरणमें पक्षपात नहीं है। भगवान् अपनी कृपाको बाँटनेमें कहीं पक्ष करते हों सो बात नहीं परन्तु भक्तकी आकुल उत्कण्ठाके बिना नहीं होता है। भक्त अत्यन्त व्याकुल होकर जब उत्कण्ठित होता है भगवान्से मिलनेके लिये उस समय जैसा कृपाका प्राकट्य होता है वैसा अन्य समय नहीं होता है। कृपा सर्वदा है, सदा है पर आकुल-व्याकुल उत्कण्ठामें यह कृपा प्रकट होकर जितना कार्य करती है उतना कार्य साधारण दशामें नहीं करती है। भगवान्की जितनी भी अन्य लीलार्यें हैं; उन सभी लीलाओंके पार्षदोंमें—जितने पार्षद आजतक लीलामें

हुये—श्रीगोपांगनाओंके साथ भगवान्के मिलनमें श्रीगोपांगनाओंके मनमें जिस प्रकारकी उत्कट उत्कण्ठा थी ऐसी कहीं आजतक हुई नहीं। इसीलिये ऐसा मिलन कहीं नहीं हुआ। जैसे गन्नेमें स्वभावतः ही रस परिपूर्ण है परन्तु जितना अधिक उसका पेषण होता है उसी परिमाणमें रस निर्गत होता है। रस बाहर निकलता है। गन्ने पर यदि कम जोर दिया जाय तो कम रस निकलेगा और बहुत अधिक पेषण किया जाय तो बहुत अधिक रस निकलेगा। तो भगवान्की कृपा स्वभावतः परिपूर्ण होते हुये भी भक्तकी सेवाकी आकांक्षा जिस परिमाणमें होगी उसी परिमाणमें उस भक्तके सामने भगवान्की कृपाका प्रकाश होगा। भक्तकी सेवाकांक्षा—भक्तकी भगवान्की सेवा करनेकी आकांक्षा जिसकी जितनी जैसी होगी उसीके अनुसार कृपाका प्रकाश होगा। इन व्रजरमणियों जैसी श्रीकृष्णके सेवाकी आकांक्षा त्रिभुवनमें आजतक कहीं नहीं हुई। इसीलिये भगवान्की वैसी कृपा आजतक कहीं नहीं हुई।

भगवान्की कृपाके बिना कोई भी न उन्हें देख सकता है न उनसे मिल सकता है और न उनकी सेवा ही कर सकता है। भगवान्की कृपासे ही देखनेका, मिलनेका, सेवाका अधिकार मिलता है—मनुष्यके साधनसे नहीं। भगवान् अनामनसगोचर है। भगवान्को मन नहीं जान सकता। भगवान्का बखान वाणी नहीं कर सकती, भगवान् इन हाथोंसे सेव्य नहीं होते तथापि अपनी कृपासे वे भक्तोंके दृश्य बन जाते हैं वो भक्तोंके वाच्य बन जाते हैं। भक्तोंके भाग्य बन जाते हैं और भक्तोंके सेव्य बन जाते हैं। भक्त उन्हें देख सकते हैं। भक्त उनका वर्णन कर सकते हैं। भक्त उनके सम्बन्धमें विचार कर सकते हैं और भक्त उनकी सेवा कर सकते हैं। यह सब बातें उनमें नहीं होनेपर भी भक्तके लिये हो जाती हैं।

नित्याव्यक्तोपि भगवान् ईक्षते शक्तिः।

ताग्रते परमात्मानम् कः पश्यताम् विभो।।

भगवान् नित्य अव्यक्त हैं। वह अपनी शक्तिसे ही अपनी कृपासे ही भक्तोंके दृश्य हो जाते हैं। उनकी कृपाके बिना इस अपरिच्छिन्न परमात्म तत्त्वको कोई देख ले, उसके ज्ञानगम्य हो जाय यह भी सम्भव नहीं। व्रजरमणियोंमें श्रीकृष्णके प्रति उपबुद्धिसे धारणा हुई। श्रीकृष्णने भी ठीक इसी भावसे उनके साथ मिलन और विहार किया। श्रीकृष्णकी पूर्ण कृपाके बिना यह लोक-वेद-विद्विष्ट भावसे इस प्रकारका मिलन कदापि सम्भव नहीं। भगवान्की उनकी अपनी बहुत प्रकारकी लीलाओंमें बहुत प्रकारसे

भगवान्का भक्तोंके साथ मिलन हुआ, होता है परन्तु रासक्रीडामें जिस प्रकारसे गोपरमणियोंके साथमें भगवान्का मिलन हुआ इस भावसे किसी लीलामें किसीके साथ नहीं हुआ। इस लीलामें इस प्रकारकी कृपाशक्तिकका विकास हुआ था कि श्रीगोपांगनाओंको 'पर' मानकर विहारमें कोई आपत्ति नहीं।

भगवान्की जो कृपाशक्ति है यह तमाम अनन्त शक्तियोंमें श्रेष्ठ है और कृपाशक्ति जब प्रकट हो जाती है तो भगवान्की सारी शक्तियाँ उस कृपाशक्तिकी अनुगामिनी होकर सेवा करने लगती हैं। तो भगवान् सर्वेश्वर होनेपर भी अपनी इच्छासे स्वयं इस कृपाशक्तिके अधीन हैं। यह कृपाशक्ति जहाँ प्रकट होती है वहाँ नाना प्रकारसे भक्तोंकी मनोवासना भगवान् पूर्ण करते हैं। ब्रजरमणियोंने अपने इस पर-प्रेमवश धैर्य, लज्जा, कुलशील, भय, मान लोक-परलोक आदि सबका परित्याग करके निर्बाध श्रीभगवान्की सेवा करनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर अर्थात् उत्कण्ठाकी चरम सीमापर पहुँकर जब उन्होंने भगवान्के समीप जानेकी इच्छा की तब भगवान्की कृपाशक्ति पूर्णरूपसे विकसित होकर भगवान्को भी उनके प्रेम सेवाके ग्रहण योग्य सजा दिया और उसी प्रकारसे गोपियोंके साथ श्रीगोपीनाथका मिलन संघटित हुआ। इसीलिये यह लीला सर्वलीला मुकुटमणि कहलायी। तो इससे—'योगभायामुपाश्रितः' इस वाक्यसे भगवान्की निर्वधी कृपाका ही संकेत मिलता है। उस कृपाका ही एक बड़ा सुन्दर रूप और दिखाते हैं।

श्रीभगवान्की रासलीलामें गोपियोंके साथ उनका योग करनेके लिये—गोपियोंका योग भगवान्के साथ हो जाय इसलिये जिस प्रकार अपार कृपा प्रकट हुई ठीक इसी प्रकार गोपियोंका पति, पुत्र, पिता, भ्राता, आत्मीय बान्धव, गृह, परिवार, स्वजन, पदार्थ इत्यादिसे अयोग करनेके लिये भी यह कृपा प्रकट हुई। भगवान् ब्रह्मरूपसे सर्वत्र और अन्तर्यामीरूपसे समस्त जीवोंके हृदयोंमें अवस्थित हैं। अतएव सबके साथ सदा ही उनका योग है। इसमें कोई संदेह ही नहीं किन्तु स्त्री, पुत्र, स्वामी, परिजन, विषय, वैभव, देह, घर इत्यादिके साथ अयोग न रहनेके कारण इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। बात समझमें आयी कि नहीं ? अर्थात् भगवान् समीके हृदयमें नित्य रहते हैं इसलिये भगवान्का किसीके साथ कभी वियोग है ही नहीं, योग है ही पर यह योग दीखता क्यों नहीं ? इसलिये नहीं दीखता कि घरमें, घरवालोंमें, परिवारमें, संसारमें, भोगोंमें, प्राणि-पदार्थोंमें योग हो रहा है, वहाँ अयोग नहीं है। वहाँ अयोग हो तो यहाँ योग हो। यहाँ

कृपाशक्तिने दोनों काम किया। गोपियोंका पति—पुत्रादिसे अयोग किया और भगवान्से योग किया—योगमाया और अयोगमाया दोनों प्रकारसे।

कहते हैं कि जगत्में जो साधक भक्त श्रवण, कीर्तन, ध्यानादिके द्वारा भक्तिके अनुष्ठानसे भगवान्का निर्बाध ध्यान करके दैहिक, सांसारिक, वैषयिक कर्मोंसे विरत होते हैं। परन्तु निविष्ट भावसे सर्वदा ध्यानमें नहीं लगे रह सकते। क्यों नहीं रह सकते ? इसलिये कि वह दो घड़ीके लिये ही भगवान्की ओर जाते हैं। पर घरमें उनका योग बना रहनेके कारणसे पुनः विषयसागरमें कूद पड़ते हैं। उधर गये और यहाँका योग छूटा ही नहीं, संसारका योग छूटा नहीं और भगवान्में योग करने गये तो घड़ी आधघड़ी भगवान्में जाकरके लगनेकी चेष्टा की, योग किया परन्तु यह अयोग हुआ नहीं था। इसलिये फिर विषयसागरमें कूद पड़े। इस अयोगके बिना काम नहीं होता। अगर इन ध्याननिष्ठ, साधननिष्ठ लोगोंका स्त्री, पुत्र, वित्तादिमें सर्वथा अयोग हो गया होता तो साधनकालमें भगवान्का योग नित्य बन जाय। उसमें कोई बाधा आवे ही नहीं। यह घरका, संसारका योग ही बार—बार वहाँसे खींचकर भगवान्से वियोग कराता है और इसमें लगाता है। इसलिये देह—देहादि—देह और देहके सम्बन्धी विषय इन सबसे अयोग हुये बिना भगवान्की योग—स्फूर्ति ठीक—ठीक सिद्ध नहीं होती। अर्थात् इनसे वियोग हुये बिना भगवान्से संयोग सिद्ध नहीं होता और होता भी है तो स्थायी नहीं होता। औरोंकी बात तो छोड़ दे—ध्रुव, प्रह्लाद जिनके समान भगवान्के भक्त कौन होंगे ? भक्त शिरोमणि और इनकी जीवनीपर विचार करके देखिये। साक्षात् भगवान्के लीला विग्रहका योग—सौभाग्य इन्हें प्राप्त हुआ किन्तु ये सम्पूर्ण रूपसे विषयोंसे अयोग न होनेके कारण फिरसे राजकार्यमें रत हो गये। ध्रुव तो लड़ाई करने चले गये। प्रह्लादने भी लड़ाईकी। उसके बाद कई बार, नर—नारायणसे लड़ाई हो गयी प्रह्लादकी। बड़ा भयानक युद्ध हुआ। जगत्में अयोग न रहनेके कारण इन भक्तोंकी भी जीवनी—यद्यपि उनकी निष्ठामें अन्तर नहीं मानना चाहिये पर उनके जीवनके बाह्य कार्योंमें जगत् आ ही गया और जो भगवान्का सम्पूर्ण भावसे योग था वह देखनेमें नहीं रहा उस समय।

इसलिये भगवान्का योग जैसे भगवान्की कृपासे ही साध्य है उसी प्रकार संसारके विषयोंसे अयोग भी इनकी कृपासे ही साध्य है। कोई कहे कि हम संसारके भोगोंको पुरुषार्थ करके छोड़ दें तो इतनेसे आसक्ति हमारी

छूटेगी नहीं। भगवान्की कृपा ही इस योगको छुड़ायेगी और भगवान्की कृपा ही उस संयोगमें लगावेगी। रासलीलामें श्रीभगवान्का जो योग है—यह ऐसा हुआ कि भगवान्के सिवा अन्यान्य समस्त प्राणि पदार्थ परिस्थितिमें अयोग सिद्ध करनेवाला हो गया। इस प्रकारकी योगमाया और अयोगमाया—योग करनेवाली कृपा और अयोग करानेवाली कृपा—इन दोनों कृपाओंका प्रकाश करके भगवान्ने रमणकी इच्छा की।

अतएव इस रासलीलामें भगवान् 'योगमायामुपाश्रितः' भी हैं और अयोगमायामुपाश्रितः भी हैं। भगवान्की अयोगमायाका ऐसा प्रभाव है कि एक बार भगवान्ने गोपियोंके प्रेमकी परीक्षा करनेके लिये अथवा उनके प्रेमका महत्व जगत्में प्रकट करनेके लिये जब उनसे कहा अपने-अपने घर लौट जाओ। पति-पुत्रादिकी सेवा करो तो उनका अयोग कितना हो चुका था कि वो बोलीं—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरंग, स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।

अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

(श्रीमद्भा० १०। २६। ३२)

गोपियों बोलीं—श्यामसुन्दर ! आप परम धार्मिक हैं—धर्मके आधार हैं। इसीलिये आप हमें उपदेश दे रहे हैं, कह रहे हैं कि तुम पति-पुत्रादिकी सेवामें लगे। यह स्त्रियोंका परम धर्म है। बहुत ठीक। परन्तु यह उपदेश आपका आपमें ही रहे हमारे तो आप ही परमप्रेष्ठ हैं तथा परम बान्धव हैं और सर्वस्व हैं। यहीं गोपियोंके कहनेका तात्पर्य यही कि हे श्रीकृष्ण ! तुम हमारे लिये करोड़ों-करोड़ों प्राणोंकी अपेक्षा भी प्रियतम हो। तुम्हारी सेवाके बिना हमारी और कोई भी स्थिति हो ही नहीं सकती। तुम्हारी सेवाको छोड़कर क्षणमात्रके लिये भी हम दूसरा काम करें, इस प्रकारकी हममें शक्ति है ही नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सब जगहसे गोपियोंका अयोग हो गया था। अगर अयोग न होता तो इतनी बात कहनेकी हिम्मत होती ही नहीं जैसे विप्र-पत्नियोंमें नहीं हुई। श्रीकृष्ण प्रेमवती गोपरमणियोंके साथ रासलीलामें जब प्रवृत्त हुये तो कितनी प्रकारसे उन्होंने अपनी कृपाको प्रकट किया इसकी कोई सीमा नहीं है। योगमाया और अयोगमायाके वर्णनसे यह बात समझमें आयी। इसके अतिरिक्त 'अयोगमायामुपाश्रितः' इसकी व्याख्या और भी होती है।

अयः अर्थात् 'अयोगत गच्छतीति अयोगा' इस प्रकारसे व्याख्या करनेपर मालूम होता है अयः अर्थात् लौह—लोहेके समान जिसकी गति है उसको

कहते हैं अयोगा । अयोगात् गच्छतीति—लोहेके समान जिसकी गति है भगवान्की जो यह माया, कृपा है यह अयोगा है । जैसे अयस्कान्तमणि अपनी शक्तिसे लोहेको खींचकर अपनेमें संयुक्त कर लेता है इसी प्रकार प्रेमी भक्तोंको देखकर भगवान्की कृपा उनकी ओर दौड़ पड़ती है खींचनेके लिये । कहते हैं कि लौह जिस प्रकारसे चुम्बककी ओर स्वभावतः ही दौड़ता है—लोहेको दौड़ाना पड़ता नहीं । चुम्बक सामने आ गया तो लोहा दौड़ गया—स्वभावतः । इसी प्रकारसे भगवान्की कृपा भी प्रेमी भक्तोंके सामने दौड़ती है मानों भगवान्की कृपा तो लोहा है और भक्तोंका प्रेम चुम्बक है । तो जैसे चुम्बकको लोहेका आवाहन नहीं करना पड़ता । चुम्बक कहता नहीं लोहेको कि तुम हमारी तरफ आओ । चुम्बक खाली लोहेके सामने हो जाता है । इसी प्रकारसे भगवान्की कृपा भी स्वतः प्रवृत्त होकर अपने आपसे चलकर प्रेमी भक्तकी ओर दौड़ती है । लेकिन एक बात यह हम लौह-चुम्बकके दृष्टान्तमें देखते हैं कि यदि लोहा परिमाणमें बहुत ज्यादा हो—हजारों मन हो और चुम्बक तोला भर हो तो वह चुम्बक खींचनेवाला होनेपर भी इतने लोहेको नहीं खींच सकता । इसी प्रकारसे भगवान्की कृपाका परिमाण भी इतना ज्यादा है यह लोहा भी इतना भारी है—भगवान्की कृपारूपी लोहा इतना अधिक है—कृपाकी शोभा अनन्ततामें ही है—भगवान्की कृपा अगर इतनी-सी हो तो वह भगवान्की कृपा नहीं हुई । भगवान् सीमित हों तब तो उनकी कृपा सीमित हो जाय परन्तु जिस प्रकारसे भगवान् अनन्त हैं उसी प्रकारसे भगवान्की कृपा भी अनन्त है । लोहा—यह विशेष लोहा जो है इसको खींचनेके लिये चुम्बक भी बहुत बड़ा होना चाहिये । यह मामूली लौकिक प्रेममें जैसे संसारको चाहते हैं । ऐसे ही भगवान्को भी चाह लिया । इस प्रकार मामूली चाहसे यह लोहा खिंचता नहीं है । थोड़ा-थोड़ा खींच जाय पर पूरा लोहा नहीं खिंचता । जिस प्रकारकी श्रीगोपरमणियोंपर कृपा हुई उस प्रकारकी कृपा तो गोपरमणियोंके समान चुम्बक होनेसे ही होती है नहीं तो होती ही नहीं । विषयी पहले नहीं चलता है ।

कहते हैं कि ब्रजरमणियोंके प्रेमकी इतनी बड़ी महिमा और इस प्रेमका परिमाण इतना प्रचुर इतना महान् कि भगवान्की कोटि-कोटि सुमेरुसे भी अधिक वृहत्तर कृपाराशिको विचलित होकर दौड़ना पड़ा उनकी तरफ । भगवान्की कृपा विचलित हो गयी अर्थात् भगवान्की कृपा जो है यह वहाँ देख नहीं सकी कि क्या करने जा रहे हैं । भगवान्की कृपा विचलित होकर

उस प्रचुर परिमाणके लोहेके सामने, गोपरमणियोंके प्रेमके सामने धावित हो गयी, दौड़ पड़ी। इसलिये भगवान्की इस परम मधुर रासलीलाको 'अयोगमायामुपाश्रितः' इस प्रकारकी समझकर 'रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान्ने रमणकी इच्छा की—यह एक अर्थ है।

फिर कहते हैं कि भगवान्के इस रासक्रीडामें कृपाके अनेक प्रकार हैं। 'यः अगमायां उपाश्रितः' इस प्रकारसे यदि पदच्छेद करें तो भगवान्की इस कृपाका एक नवीन दर्शन और होता है। वहाँ भगवान्ने रमणकी इच्छा की। 'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' तो यहाँ एक प्रश्न होता है कि अनन्तरूपधारी भगवान्ने किस रूपमें रमणकी इच्छा की? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जाता है कि—'यः अगमायां उपाश्रितः सः भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे'

अनन्त मूर्तिधारी भगवान् जिस मूर्तिसे इस अगमायाका प्रकाश करते हैं जहाँ यह प्रकाश हुआ अगमायाका उसी मूर्तिसे इन्होंने इच्छा की। तो योगमायाका अर्थ हम करते हैं—निश्चल कृपा, अचल कृपा—'न गच्छति न चलति इति अगा, निश्चला सा चा सौ मायाकृपा तेषि अगमाया तामुपाश्रिता प्रकटीकृतः'। अपार करुणामय श्रीभगवान्की कृपाको प्राप्त करना यह माग्यवानोंके माग्यमें हो तो जाता है क्योंकि वह कृपा बड़ी सरल भी है परन्तु स्थायी भावसे कृपा अचल होकर रह जाय। यह सबके लिये सहज नहीं होता।

कहते हैं कि भक्तनिष्ठ कर्मयोगादि अनुष्ठानमें भगवत्कृपाके द्वारा सम्भव है इन्द्रपद मिल जाता है, ब्रह्माका पद मिल जाता है किन्तु हमेशाके लिये नहीं। पुण्य क्षय होते ही फिर आना पड़ता है। योगी, ज्ञानी आदि निश्चित ही भगवान्की कृपासे मुक्त हो जाते हैं पर वो कृपाका भोग नहीं कर पाते क्योंकि संसारकी मुक्तिका अर्थ ही है सच्चिदानन्द स्वरूप सिन्धुमें विन्दुवत् विलीन हो जाना। ज्ञानी, योगी पुरुष जब अपने ज्ञानका फल तत्त्वज्ञान पाते हैं तो क्या होता है कि जो सच्चिदानन्द रूपी स्वरूप सागर है उसमें बूँदकी तरह जाकर मिल जाते हैं, सागर बन जाते हैं। भगवान्की कृपाके बिना किसीको सेवाधिकार नहीं मिलता। अतएव भगवान्की कृपाका प्रत्यक्ष भोग वह नहीं कर सकते। अचल होकर ही रहती है वह कृपा किन्तु भगवान्ने अपनी कृष्ण लीलामें जिनपर कृपाकी, उनपर अगमायाने ही की। निश्चल कृपा की। अन्य अवतारोंमें सबमें भगवान्की कृपा तो समान ही है पर इस प्रकार भगवान्ने दिखाया नहीं अपनी कृपाका अगमायास्वरूप।

इस सम्बन्धमें औरोंकी बात छोड़ दे, पूतना जो है यह तो जहर

लगाकर मारने आयी पर पूतनाको मारकर इन्होंने जननीकी गति दे दी। वहाँ पर भगवान्ने अगमायाका प्रकाश किया। जो श्रीकृष्ण इस अगमायाको लेकर जगत्में अवतीर्ण हैं उनके कृपा भण्डारमें मानों अगमायाके सिवा और कुछ है ही नहीं। वे जिसपर कृपा करते हैं वह अगमाया ही करते हैं—निश्चला ही करते हैं। तो श्रीकृष्णने अपनी समस्त लीलाओंमें अगमायाका वितरण किया। इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु रासलीलामें तो मानों उन्होंने अगमायाके भण्डारका दरवाजा ही खोल दिया, लुटा दिया। इसीलिये उन्होंने रासलीलामें 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां' (श्रीमद्भा० १०। ३२। २२) इत्यादि श्लोकोंमें गोपियोंके लिये कहा कि ब्रह्माकी लम्बी आयु पर्यन्त भी यदि मैं प्रयत्न करूँ तो तुम्हारे प्रेमका बदला नहीं चुका सकता। तुम्हारा प्रेम सदाके लिये मुझे ऋणी बनाकर रखेगा। गोपियोंपर कृपा करने जाकर मानो भगवान्ने अपनी कृपाका भण्डार निःशेष कर दिया और फिर ऋण स्वीकार कर लिया। अपनी कृपाका सारा भण्डार देकर भी कहा कि भई ! अभी ऋण उतरा नहीं। ऋण तुम्हारा नहीं गया। ऐसी अगमाया भगवान्ने कहाँ प्रकट की ? अपने गीताके वाक्यको बदल दिया यहाँ भगवान्ने। भगवान्की प्रतिज्ञा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११)

प्रतिज्ञा है किन्तु—'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां' अरे ! सेवाका बदला चुका सकते, वैसा ही भजन कर सकते भजनके बदलेमें, तो यह कहनेकी क्या आवश्यकता थी कि मैं ऋणी रह गया। इस प्रकारसे भगवान् अपनी अगमायाका—निश्चलाकृपाका प्रकाश करते हैं।

फिर दूसरे प्रकारान्तरसे इसके अर्थका स्वाद लिया जा सकता है। 'अगेषु स्थावरेषु वृक्षलता विश्वपि या मायाकृपा ता अगमाया तामुपाश्रिता भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे'। कहते हैं श्रीभगवान्ने जितनी लीलायें की, जहाँ—जहाँ अवतीर्ण हुये वहाँ कृपाका सम्भार लेकर ही अवतीर्ण हुये। किन्तु श्रीकृष्णलीलामें वृक्षलताओंको भी कृपादान देकर कृतार्थ किया। यह अयाचित कृपावर्षण बड़ा अद्भुत है।

पद्मनाभ भगवान्ने हजारों—हजारों अवतारोंमें अनेक महाशक्तियोंको प्राकट्य किया। हजारों अवतार हुये और हजारों प्रकारके महाशक्तियोंसे परिपूर्ण पर श्रीकृष्णके बिना ऐसा कौन हुआ जिसने वृक्ष—लतादि पर भी प्रेम—सिंचन किया। उनको भी प्रेमरससे नहला दिया, अभिसिक्त कर दिया। रासलीलामें जब भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं तो श्रीगोपांगनाएँ वन—वनमें

उनको ढूँढ़ती फिरती हैं। तब इनके कृपारस्पर्शजनित प्रेमानन्दसे पुलकित वृक्ष—लताओंको देखकर—उन्होंने देखा कि यह वृक्ष—देह नहीं पुलकित देह हो रहे हैं—इनके रोमांच क्यों हो रहा है ? तो रोमांच इसलिये हो रहा है वृक्ष—लताओंके शरीरमें कि श्यामसुन्दर उनको स्पर्श कर दें। श्यामसुन्दरके स्पर्शसे वृक्ष—लतादि प्रेमानन्दसे पुलकित हो गये हैं।

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याशिलष्टा वनस्पतेः।

नूनं तत्करजस्पृष्टा विभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥

(श्रीमद्भाग० १०। ३०। १३)

यह देखकर गोपांगनायें कहने लगीं कि देखो, ऐ सखी ! वृक्षशाखावलम्बिनी यह जो लता है—वृक्षकी शाखाका अवलम्बन करके फैली हुई निश्चय ही यह श्यामसुन्दरके कर—स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त कर चुकी है। भगवान् इसे छू गये हैं इसीलिये यह पुलकित होकर और मृदुल—मृदुल पवनके आन्दोलनसे नाच रही है। यह बेल जो नाच उठी यह उन्मत्तता कहाँसे इसमें आ गयी। कहाकि भगवान् छू गये, उनका स्पर्श हो गया। श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी कृपा वृक्ष—लतादिके ऊपर अनन्त हुई।

ये स्थावर प्राणी सारे भगवान्के पास जा नहीं सकते तो भगवान् स्वयं पुष्प चयनादिके बहाने इनके पास जाते। इनके तले पहुँचते, भ्रमण करते और कृपारस सिंचन करके इन्हें कृतार्थ करते। अपने हाथसे किसी बेलको सहला देते, किसीकी धूल झाड़ देते, किसीपर रस बरसा देते। किसीका स्पर्श कर देते। अतः ये सबके सब कृतार्थ हो गये। दूरसे जब वंशीकी ध्वनि होती तो वंशीके मधुर—स्वरको यह वनभूमि लेती तो सारे वनमें श्रीकृष्णके अंगसे स्पर्शित वायु फैल जाती। तब क्या होता कि वृन्दावनकी वनभूमिमें रहनेवाले सब वृक्ष सब लतायें प्रेमसे पुलकित हो जाती। वंशी—ध्वनि सुनकर और भगवान्के अंग—गन्धको पाकर पुलकित हो जाते और आमूल—जड़से लेकर तमाम शाखाओंमें फल—फूल सब—के—सब प्रकट हो जाते। सुशोभित हो जाता सारा वन—प्रदेश। पर बेचारोंके पैर थे नहीं इसलिये श्रीभगवान्के साथ—साथ ये वनभूमिमें विचरण नहीं कर सकते थे। इसीलिये 'अगमायामुपाश्रितः' भगवान्ने उनके निकट जाना स्वीकार किया और इसलिये वे जाकर करुणापूर्ण कर—स्पर्शसे उनका आनन्दवर्धन करते।

इस प्रकार भगवान्ने अगमायाका प्रकाश करके वृन्दावनके वृक्षोंको बेलोंको लता—वितानोंको धन्य कर दिया और यह जगत्में मानों घोषणा कर

दी कि भाई ! देखो ! जिसके भी हृदयमें मेरी सेवाकी आकांक्षा जाग उठी वह अगर मेरे पास नहीं आ सकता तो उनके पास मैं पहुँच जाऊँगा उनको कृतार्थ करूँगा। यह मानों भगवान्ने घोषणा कर दी यहाँपर। क्रियात्मक उपदेश कर दिया, केवल लौकिक नहीं। रासलीलामें भगवान्ने गूर्णरूपसे अगमायाका प्रकाश किया। क्यों ऐसा किया ? इसका कारण बताते हैं कि पूर्वकल्पोंमें कृष्णलीलाका दर्शन करके, गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका श्रवण करके, गोपी भावसे श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्तिके लिये लालसा बढ़ाकर बहुतसे ऋषियोंने, मुनियोंने, बहुत-बहुतसे साधकोंने रागानुगा भक्तिके द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। वे सभी श्रीकृष्णकी इस प्रकट लीलाके समय गोपीदेह धारण करके वात्सल्यवती गोपियोंके वहाँ जन्मे थे। श्रीकृष्णने रासलीलाके समय अगमायाको प्रकट करके उन सबका इस लीलामें प्रवेश करा दिया। साधन सिद्धा जो गोपियाँ थीं उनको ऐसा मानते हैं कि रासलीलाके दिन ही इनका नित्यलीलामें प्रवेश होता है। साधन सिद्धा गोपियोंका हित सिद्धा गोपियोंके साथ जो मिलन है, प्रवेश है नित्य लीलामें, वह इसी समय होता है। यह रासलीला इसीलिये होती है कि ये साधनानुष्ठानका फल है। साधन सिद्धा गोपियोंको हित सिद्धा गोपियोंके साथ मिलानेका यह महान् उत्सवपूर्ण आयोजन है।

कहते हैं कि ज्ञानी, योगी, कर्मी—इनके साधनके फलमें और रागानुगा भक्तिके साधकोंके फलमें कुछ अन्तर है क्योंकि ज्ञानी अपनी ज्ञान साधनासे सिद्धावस्थामें ब्रह्मत्वको प्राप्त करते हैं और सर्वव्यापी सायुज्य लाभ करते हैं और उनको ब्रह्मस्वरूपमें सायुज्य लाभ करनेके लिये स्थानान्तरणका गमन नहीं करना पड़ता। जहाँ देह छूटा वहीं पर—

‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यमेव समक्लीयन्ते’ (बृहदारण्य उप० ४।४।६)

जहाँ प्राण निकले, प्राणोंका उत्क्रमण हुआ नहीं और वहीं—के—वहीं उनके सूक्ष्म देहका नाश हो गया और वो परब्रह्ममें विलीन हो गये। योगी भी अपने हृदयेष्ट परमात्माके साथ जीवात्माकी एकात्मता करके वहींपर विलीन हो जाते हैं। कर्मी भी अपने-अपने कर्मफलोंके अनुसार देव-तिर्यगादि विविध देह धारण करके इन्हीं ब्रह्माण्डोंमें रहते हैं; और लोकोंमें नहीं जाना पड़ता उन्हें। किन्तु गोपी भावसे श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्तिकी लालसासे जो लोग रागानुगाभक्ति करते हैं वे न तो परब्रह्ममें विलीन होते हैं और न वे देव, तिर्यगादि देह धारण करके ब्रह्माण्डमें रहते हैं। उनकी साधनाकी जो सिद्धि है वह गोपी देहसे श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्तिके ही पर्यवसित होती है। गोपी

गर्भसे जन्म ग्रहण करके वे लोग नित्य सिद्ध गोपियोंका संग प्राप्त करते हैं और उसके बाद भगवान्की नित्य सेवामें वे अधिकारी होकर संलग्न होती हैं।

यह श्रीकृष्णका धाम जो है यह धाम—रासधाम, विलासधाम, लीलाधाम—यह ब्रह्माण्डसे बहुत दूर है। इसकी लोक कल्पना भी है गोलोक, ब्रजलोक। और लोक कल्पना जहाँ नहीं है वहाँ भी यह ब्रह्माण्डसे बहुत दूर है क्योंकि ब्रह्माण्डकी जो कुछ साधन—सामग्री—सामाग है उसमें नहीं है। यहाँका काम वहाँ नहीं होता है। यहाँसे बहुत दूर। इस जगत्से बहुत दूर वह प्रेमका धाम है। रागानुगाभक्तिवालोंको इस ब्रह्माण्डमें नहीं रहना पड़ता। बहुत दूर लीला धाममें पहुँच जाते हैं और इसे लोक—दृष्टिसे देखे तो अनन्त ब्रह्माण्ड और मायासमुद्रकी बात तो है। कारणार्णव—कारण समुद्र उसके बाद है, सिद्धलोक, उसके बाद है परम व्योम वहाँ अनन्त वैकुण्ठकी स्थिति है और उसके बाद है भगवान्का लीलाधाम—ब्रजलोक। वहाँ अपनी इच्छासे कोई जा सके या साधनासे यह नहीं हो सकता।

गोपीभावसे श्रीकृष्णकी प्रेम सेवा करनेका लोभ जिनके मनमें जागृत हो जाता है और जो गोपियोंके समान अपनेको बना लेते हैं वे ही उस साध्यापि प्रेमभावमें पहुँच सकते हैं और लोग नहीं पहुँच सकते। इसलिये श्रीभगवान् जब लीला प्रकट करते हैं तो उनकी सेवा प्राप्तिकी उत्कंठा रखनेवाले साधक योगमायाकी सहायतासे वहाँ प्रकटलीलामें गोपीगर्भसे प्रकट होते हैं और फिर नित्य सिद्धा गोपियोंके संगकी महिमासे भाव परिपक्व होनेपर रासलीलामें श्रीकृष्णके साथ मिल जाते हैं। यह विषय आयेगा कि इनमें जो गोपियाँ थीं उनमें कुमारियाँ भी थीं, अविवाहिता भी थीं, तरुणी भी थीं। इन सबके अलग—अलग भाव हैं। यह प्रपञ्चातीत भगवान्का धाम—प्रेमधाम यह तो गतिविहीन है। कृपाके बिना यहाँ कोई जा नहीं सकता। अपनी चालसे चलकर भगवान्के प्रेमधाममें कोई नहीं पहुँचता। यह तो बस अपने अन्दर इस प्रकारकी जिसके अन्दर भावना जागृत हो गयी वही चुम्बकके सामने जैसे लोहा आता है वैसे ही भगवान्की कृपा आ जाती है।

कहते हैं कि भई ! भगवान् करुणाधामके समुद्र हैं और निरन्तर उनकी कृपाधारा विश्वको प्लावित करती रहती है परन्तु कृपाधाराकी शक्तिको धारण करनेवाले भी तो होने चाहिये। उनकी कृपाके ग्राहक भी तो हैं। कृपा तो उनकी है। कोई भी ऐसा दयालु हो और परम उदार महापुरुष हो जो अकारण दिन—रात देता ही रहे, देता ही रहे और जिसके देनेमें कभी किसी

प्रकारकी कभी न आवे, जिसका नित्य प्राचुर्य बढ़ता रहे। देनेमें जिसका देनापन और देनेकी वस्तु नित्य बढ़ती रहे। ऐसे भगवान् उदार शिरोमणि हैं लेकिन कोई दरिद्र इस धनको लेकर रखेगा कहाँ ? रखनेकी जगह नहीं। उसकी उस दूटी झोपड़ीमें अगर धन लाकर रख दे तो चोर चुराकर ले जाय। दाताका दान प्राप्त करनेपर भी ग्राहकके लिये—उसके लेनेवालेके लिये उसकी रक्षा करनी बड़ी कठिन है। भगवान्की अयाचित कृपा बहुत दफे बहुतोंको मिल भी जाती है किन्तु वे उसको रख नहीं सकते, खो देते हैं, बेच डालते हैं चोरोंके हाथ। सारे भोग चोर ही हैं। भगवान्की कृपाको भोगरूपी चोरोंके हाथों बेच डालते हैं। घर है ही नहीं कि उसे रख लें।

संसारसक्त जीव भगवान्की कृपा पाते हैं परन्तु दुर्भाग्यवश उसे खो देते हैं अथवा या तो चोर आ जाते हैं या वैसा संग मिल जाता है बहुत खराब या धर्मध्वजी सिद्ध पुरुषोंको मिल जाते हैं। बने हुये सिद्ध लोग जिनके हाथमें गिरे फिर उनको दूर ले जाकर फेंक देते हैं। कृपा सारी खो जाती है और कोई अगर आगे ही बढ़ता है तो क्या होता है कि बड़ा तूफान आता है उस तूफानमें फँसकर वे संसार सागरमें गिर पड़ते हैं। तूफान क्या है ? वह तूफान है मान-प्रतिष्ठा, कीर्तिकी आँधी। इससे रक्षा होनी बड़ी कठिन। लोग कहते हैं ये भगवान्के बड़े भक्त, ये भगवान्के बड़े प्रेमी, भगवान् तो इनके वशमें रहते हैं। अब चाहे वशमें हों या न हों परन्तु कुछ कृपा प्राप्त हुई थी, अब वह कृपा इस प्रकारसे खोयी जाने लगी। तूफान आ गया, आँधी बड़े जोरकी आ गयी। इस आँधीमें ये पूजा, प्रतिष्ठादिकी प्राप्तिमें ही इन्हींके गुलाम बन जाते हैं। कृपाका आधिपत्य उठा-उठाकर दूर फेंक देते हैं। हमको कृपा नहीं चाहिये। हमको तो मान चाहिये, प्रतिष्ठा चाहिये, नाम चाहिये, कीर्ति चाहिये, पूजा चाहिये। भगवान्के आसनपर बैठ जाते हैं किन्तु कहते हैं कि रासलीलामें भगवान्ने जिस कृपाका प्राकट्य किया वह तो बड़ी चमत्कारमयी लीला है।

भगवान्की इस कृपाको जिसने पाया वह फिर कभी कृपासे वंचित नहीं हो सका—निश्चला कृपा। भगवान्की कृपा जो वितरित होती है उस कृपामें ही ऐसी कोई शक्ति रहती है कि वह शक्ति जिसमें आ जाती है, तो वह कृपा ही कृपाप्राप्त व्यक्तिको कृपा ग्रहण करनेकी और कृपाकी रक्षा करनेकी शक्ति दे देती है। गोपांगनाओंने उस शक्तिको प्राप्त किया और उनके लिये भगवान्ने वो शक्ति दी। इसका नाम है 'योगमायामुपाश्रितः'—योग ऐश्वर्य तदयुक्ता या माया कृपा तामुपाश्रिता भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे

कहते हैं कि भगवान्‌का योग शब्दका अर्थ है भगवान्‌का ऐश्वर्य और ऐश्वर्यकी जो कृपा है उसका नाम है योगमाया—योग माने ऐश्वर्य, माया माने कृपा। श्रीकृष्णकी लीलामें यह ऐश्वर्य युक्त कृपा ही नाना प्रकारोंसे अपना काम करती है। पूतना राक्षसीको माँकी गति दे दी। वहाँसे लेकर और जितनी भी लीलाएँ भगवान्‌ने की वहाँ—वहाँपर योगमायाने—ऐश्वर्य—कृपाने प्रकट होकर सारा काम यों बना दिया कि कहीं किसी प्रकारकी अड़चन आयी ही नहीं। मानों पहलेसे बना बनाया तैयार। इस ऐश्वर्ययुक्त कृपाका रासलीलामें पूर्ण विकास दीखता है प्रथमसे अन्त तक।

श्रीभगवान्‌ने जब अनुरागिणी ब्रजबालाओंपर कृपा करके उनके साथ रासक्रीडा करनेकी इच्छा की और उनको अपने—अपने घरोंसे वन भूमिमें बुलानेके लिये वंशीनाद किया तो भगवान्‌ने यह जो वंशीनाद किया कृपा करके, यह अगर सभी सुन लेते तो भगवान्‌के पास इन सबका आना ही मुश्किल हो जाता। भगवान्‌की कृपाने वहाँ ऐश्वर्य प्रकाश करके वंशीनाद केवल सुनाया गोपसमणियोंको ही। वंशी बजी सबके लिये लेकिन उनके कानोंको अवरुद्ध कर दिया ऐश्वर्य शक्तिने। यदि सब कोई सुनते तो एक आफत और होती। यह वंशी तो सबको मोहित करनेवाली है। तो वंशीनादको सुनकरके सभी घरवाले चल पड़ते, सारा ब्रज ही वहाँ उमड़ पड़ता। तो फिर यह लीला होती ही नहीं। ऐश्वर्य प्रकाश हुआ फिर जब इनके पति—पुत्रोंने निवारण किया—रोका परन्तु जब जाने लगीं तो भूल गये और अपने—अपने घरोंको वापिस लौट आये। नहीं तो साथ ही चले चलते। पीछे—पीछे दौड़ते तो काम नहीं बनता।

रासस्थलीमें तो योगमायाकी ऐश्वर्य शक्तिने पूर्ण प्रकाश किया। यह भगवान्‌ने रासनृत्यमें प्रवृत्त होकरके प्रत्येक गोपीका हाथ धारण कर लिया। दो—दो गोपीके बीचमें एक—एक कृष्ण। अनन्त गोपिकाओंमें अनन्त कृष्ण रूपसे प्रकट होकरके भगवान्‌ने गोपिकाओंकी मनोवांछा पूर्ण की।

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः। (श्रीमद्भाग० १०। ३३। २०)

जितनी गोपांगनाएँ थीं रासस्थलीमें उतनी मूर्ति प्रकट करके भगवान्‌ने रास—नृत्य किया। यह ऐश्वर्ययुक्त कृपाका पूर्ण विकास है।

योगमाया शब्द पर विचार करने पर भगवान्‌की लीलाके और वैभव भी सामने आते हैं।

(८)

भगवानपि ता रात्रीः शदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।

रास पञ्चाध्यायीके पहले श्लोकका ही प्रसंग चल रहा है और उसमें 'योगमायामुपाश्रितः' इसपर विचार हो रहा है तो एक यह अर्थ है कि—

'योग आत्मना सह मिलने या माया यज्ञपत्नियादि स वंचना तामुपाश्रितोऽपि भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे'

भगवान्का एक स्वभाव यह है कि वे भुक्ति—मुक्ति तो सहजमें दे देते हैं पर भक्ति या प्रेम छिपाकर रखते हैं, देना नहीं चाहते हैं। भक्ति या प्रेम चाहनेवालोंको उनकी माया पहले वंचित करती है, हटाती है कि किसी तरह ये ज्ञान या मुक्ति लेकर चले जायँ। किसी तरह इनसे पिण्ड छूटे। योगमायाका अर्थ है कि अपने साथ मिलनेमें जो वंचना करे—न मिलने दे—ऐसी योगमायाको साथ लेकर भगवान्ने 'रन्तुं मनश्चक्रे' किया। वास्तवमें यही बात है। कहते हैं कि जो सर्वत्याग करके सब प्रकारसे दुःख—दैन्यादिको स्वीकार करके किसी भी बातकी परवाह न करके लोक, वेद, देह इनके धर्म, कर्म, लज्जा, धैर्य, सुख, आत्मसुख, मर्म इत्यादि किसी चीजकी परवाह न करके सबको अग्राह्य करके एक मात्र श्रीकृष्ण सेवा ही जिनका सारसर्वस्व हो वही इस वंचनारूपी मायासे मुक्त होकर श्रीकृष्णका संगसुख और सेवासुखास्वादन कर सकते हैं। यह खास चीज है सेवा—सुखास्वादन। यह कर सकते हैं।

कहते हैं कि दूसरोंकी बात तो दूर रही श्रीकृष्णकी परम अनुरागिणी विप्र पत्नियोंकी बात है। एकबार भगवान् श्रीकृष्ण वनमें गये गोचारणके लिये—अब उनको तो विप्र पत्नियोंकी इच्छा पूर्ण करनी थी सो उस दिन छाक आनेमें देर हो गयी तो भूख लग गयी। बच्चोंको भूख लगा दी। उन्होंने कहा कि, कन्हैया ! आज तो भूख लग गयी और कलेवा आया नहीं तो क्या करें ? तो बोले सहन करो भई ! कुछ देर टहरो। गोपबालक बोले हमसे तो रहा नहीं जाता। बच्चोंको भूख लग गयी और रहा नहीं जाता। अब कुछ पास तो था नहीं बेचारे खाते क्या तो कहा भई ! एक काम करो। थोड़ी दूरपर ब्राह्मण लोग यज्ञ कर रहे हैं तो तुम लोग जाओ और जाकर कहो कि कन्हैया श्रीकृष्ण आये हैं; उनको भूख लगी है तो कुछ दे दो। बच्चे बेचारे सरल हृदयके वे समझे सभी गोकुलवासीके समान हृदयके हैं; लोग दे ही देंगे माँगनेसे। उनको क्या पता कि यह बहुत विधि—विधान माननेवाले, सब

बड़े-बड़े पण्डित लोग हैं। वे पहुँचे तो पण्डित वेदकी ऋचाओंके साथ यज्ञमें आहुति दे रहे थे। विप्र बोले कि भई ! कहाँ आये तुम लोग ? डाँटकर कहा। डर गये बेचारे। बोले, कन्हैयाने भेजा है बाबाजी। क्या काम है ? बोले यह आया हुआ है। नजदीक ही है। आपके यहाँ माल बना है उसमेंसे कलेवा दे दीजिये। विप्र बोले—हटो यहाँसे, यह यज्ञ है कि कोई ग्वालोंका घर है। दूर हटो। अब वे बेचारे डरके मारे बोलेनकी हिम्मत नहीं। फिर लौट आये। आकरके बोले, कन्हैया ! वहाँ तो भिला नहीं, केवल डौंट मिली। कन्हैया बोले—क्या करें ? तो वे बोले भूख लगी है कोई उपाय बताओ। कन्हैयाने कहा—उपाय है कि अबकी तुम लोग ब्राह्मणके पास न जाकर उनकी कुटियाके अन्दर चले जाओ और वहाँ वो देवियों सब हैं ब्राह्मणी-मातायें उनसे जाकर कहो कि, मैया ! कन्हैयाको भूख लगी है तो वे दे देंगी। बच्चे बोले मारेंगी तो नहीं, उनके घरमें जाय ? बोले, मारेंगी नहीं। तो हिम्मत की। कन्हैयाकी बात तो सबको माननी ही है तो सब गये। अन्दर चले गये। ब्राह्मणियोंने कहा, लाला ! यहाँ कहाँसे आये हो ? प्रेमसे बोलीं तो बच्चोंको बड़ा संतोष मिला कि यहाँ मारने-वारनेकी बात नहीं। क्यों आये हो लाला ? दौड़े-दौड़े आये हो क्या बात है ? बोले मैया ! कन्हैया आया हुआ है। बोली, कन्हैया आया हुआ है श्यामसुन्दर ? क्या कुछ कहलाया है ? बोले, हाँ मैया ! बड़ी भूख लगी है उसको और हम सब भूखे हैं। ब्राह्मणियों जो जो पकवान बना था उन सबको थालमें सजाकर चलीं। ब्राह्मण बोले कहाँ जा रही हो ? सुना ही नहीं किसीने। पहुँच गयीं वहाँ ले करके। भगवान्को देखा, बलदाऊजीके कन्धेपर हाथ दिये खड़े हैं; निहाल हो गयीं देख करके। कहते हैं कि औरोंकी बात तो अलग रही है विप्र-पत्नियों जो थीं यज्ञ-पत्नियों यह भी श्रीकृष्णानुरागिणी थी—श्रीकृष्णमें उनका अनुराग था। इसीलिये वे पति-पुत्रादिका त्याग करके केवल श्रीकृष्णकी सेवाके लिये ही तो आयी थीं, खाना ले करके। उनका और क्या भाव था ? श्रीकृष्णको सुख मिले, उनकी भूख मिटे, उनको खिलानेके लिये ही तो बढ़िया-बढ़िया चीजें लेकर आयी थीं। और वे पति-पुत्रादिका त्याग करके आयी थीं। वे कृष्णानुरागिणी थीं इसलिये कन्हैयाका नाम सुनते ही उनके हृदयमें उमंग आ गयी कि भोजन ले चलना है। परन्तु वंचना करनेवाली योगमाया तो साथ थी। इस मायाकी महापरीक्षामें वे पास नहीं हो सकीं। उत्तीर्ण नहीं हो सकीं। भगवान् तो साथमें योगमायाको लेकर रहते हैं। गोपियोंसे भी यही कहा कि तुम आ गयी बड़ा

अच्छा किया---

‘स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः’

(श्रीमद्भा० १० | २६ | १८)

तुम्हारा स्वागत है। यही शब्द यहाँ, यही शब्द वहाँ, दोनों जगह यही शब्द है। पहला आधा श्लोक एक साथ। आओ, तुम्हारा स्वागत है। कहो क्या करें? तुम्हारे लिये कोई सुखकी चीज। कहा—महराज! कुछ नहीं बस आ गयी। भोजन जो लायी थी वह तो खाना था ही। वो खा-पीकर बोले अच्छा अब लौट जाओ। अब देखिये यहाँपर वंचना—वो बोलीं कि, श्रीकृष्ण! तुमने जानेकी बात कही सो तो ठीक है और जाना हम चाहती भी हैं लेकिन हम वहाँपर पतियोंको, पुत्रोंको त्याग करके उच्छ्वलतासे उनकी बात न मान करके मनमाने तौरपर आ गयी हैं तो वे हमको घरोंमें रखें या न रखें। अगर न रखें हमको घरोंमें तो बताओ हम क्या करें? श्रीकृष्णकी योगमाया अर्थात् अपने साथ मिलने देनेमें वंचना करनेवाली। बस, यह हो गयी प्रकट और बोली—मैं तुम लोगोंको बर दे रहा हूँ कि तुम लोग जाओ और तुम जब घर पहुँचोगी तो तुम्हारे पति-पुत्र सभी तुम लोगोंका सत्कार करेंगे और बड़े आदरके साथ तुम्हें घरोंमें रखेंगे—

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्या धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।

धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ते त्वघोक्षजे ॥

(श्रीमद्भा० १० | २३ | ३६)

वे बेचारे ब्राह्मण रोये पीछे कि हाय-हाय हमसे बड़ी भूल हो गयी। हमारे कुलको धिक्कार, द्विज्जन्म होनेको धिक्कार, हमारे कुल, क्रिया-दक्षताको धिक्कार। अरे, ये तो जा पहुँची उनके पास उनकी सेवा कर आयीं। हम वंचित रह गये। भगवान्ने कहा तुम जाओ। तुम्हें खेदेङ्गे नहीं। बड़े आदरसे तुमको रख लेंगे। यज्ञ पत्नियों मान गयीं, लौट गयीं। फिर वे जरा भी बोली नहीं। इसलिये कृष्णसंग कृष्णसेवाका परित्याग हो गया उनका। यद्यपि गयीं थी कृष्णका चिन्तन करते ही। पर लौट गयीं अपने घरोंको।

कहते हैं कि इसी प्रकार योगमायाकी महान् वंचनामें पड़करके बड़े-बड़े लोग कोई मुक्तिको पाकरके सेवाधिकारीको छोड़ देते हैं और जो बहुत मन्द बुद्धिवाले लोग हैं वो तो विनाशी भोगके लिये ही सेवा छोड़ देते हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि बहुत दिन श्रीकृष्णकी सेवा की, पूजा करते-करते आज उसका फल मिला है। अब पूजा पुजारीजी करेंगे। कुछ रुपये देकरके

पुजारियोंको रख लिया और अपने भगवान्का दिया वैभव है उसे भोगना है। मन्दिरमें पुजारीजी हैं ही अब हमको फुरसत नहीं। इस प्रकारसे वो भुक्तिको लेकरके भोगोंको लेकरके सेवाधिकारको छोड़ देते हैं; और कोई जो बड़े भारी साधन-सम्पन्न महापुरुष हैं वे भुक्तिको ले लेते हैं और सेवाधिकारको छोड़ देते हैं। कोई ऐसे भी होते हैं जो—

सालोक्यसार्ष्टिं सामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमानं त गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भा० ३। २६। १३)

भगवान्ने कहा कि जो मेरे जन हैं—मेरे निजजन—उनके अपने बहुत कम होते हैं। कोई भुक्तिके होते हैं, कोई भुक्तिके जन होते हैं। हरिजन असली नहीं होते। आजकलके हरिजन दूसरे। जो निजजन भगवान्के हैं वे निज सेवामें रहते हैं, व्यक्तिगत होते हैं। एक तो होते हैं आफिसके सेक्रेटरी, आफिसका काम करते हैं। खूब मजेमें दरबारका काम करते हैं। और एक होते हैं पर्सनल सेक्रेटरी वो व्यक्तिगत काम जो उसका है उसको देखते हैं। उनका महत्त्व अधिक होता है। उनके सामने अन्तरंग बात भी खुलती है। क्योंकि वे अन्तरंग सेवा करते हैं। इसी प्रकार जो निजजन भगवान्के होते हैं, वे सेवाको छोड़कर किसी और चीजको नहीं ग्रहण करते। उनको कोई अगर दूसरा बड़ा भारी महकमा दे दे, राजा बना दे तो कहते हैं यह नहीं, हमको तो सेवामें रखो; यहाँ पाँच प्रकारकी भुक्तियोंका भेद बताया है। सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि, सारूप्य और एकत्व—इन पाँच प्रकारकी भुक्तियोंको देनेपर भी वे मेरे निजजन मेरी सेवाको छोड़कर इन्हें स्वीकार नहीं करते।

ऐसे जो लोग हैं उनके सामने भगवान् बाध्य हो जाते हैं। भगवान्की योगमाया-वचनामायाका वहाँ काम नहीं पड़ता। कहते हैं कि यहाँपर विप्र-पत्नियों तो लौट गयीं परन्तु कृष्णसेवा लाभकी अनधिकारी हो गयीं और ये ब्रजरमणियाँ जब श्रीकृष्णके वंशीनादको सुनकर आकृष्ट होकर श्रीकृष्णके समीप पहुँची तो वहाँ भी यही चेष्टा हुई। योगमायाने वचना की कि जाओ लौट जाओ। वहाँ पर तो एक ही बात कही पर यहाँ तो योगमायाके द्वारा भगवान्ने बड़ा व्याख्यान दिया। भगवान्ने पूछा कि शोभा देखने आयी थी कोई बात नहीं। प्रेमसे तो लोग आते ही हैं मेरे पास, आकर्षित होते हैं; तुम भी आयी। तुमने मुझको भी देख लिया। अब अंधियारी रात है। यहाँ न मालूम कितने क्रूर जीव-जन्तु हैं, तुमलोगोंको नहीं रहना चाहिये और अकेलेमें

किसीको आना नहीं चाहिये, तुम्हारे पति—पुत्र तुम्हें वहाँ याद करते होंगे। घरका नुकसान होता होगा। गायें हैं, तुम्हारा दूध—दही होगा, लौट जाओ और फिर धर्मकी बात बतायी। यह सती स्त्रियोंका धर्म नहीं कि वे कहीं एकान्तमें किसी पर पुरुषके पास जायँ। इसलिये तुम लौट जाओ। सब बातें कह दीं। यह वंचना, यह योगमायाका वंचनाका रूप।

कहते हैं कि ब्रजरमणियोंके सामने भी श्रीकृष्णकी योगमायाने वंचनाकी चेष्टा की जिससे वे लौट जायँ। यह तो चेष्टा नहीं है यह प्रेमका गौरव, प्रेमकी महिमा बढ़ाना है कि जगत्की किसी वस्तुमें कहीं पर भी उनका त्याग अवशेष नहीं रह गया। यह वंचना थी पर यह वंचना जो है यह ब्रजरमणियोंके प्रगाढ़ विशुद्ध अनुरागके सामने पराजित हो गयी। फलवती नहीं हो सकी। श्रीगोपियोंने भगवान्का आदेश सुनकरके कहा—श्रीकृष्ण ! तुम्हारे इस चरणप्रान्तको छोड़ करके एक पद भी लौट जानेकी हमलोगोंकी शक्ति नहीं है। तुम यदि हमें सेवा प्रदान करनेसे वंचित करोगे तो बस तुम्हारे चरणका चिन्तन करते—करते इस चरणप्रान्तमें ही हमारा जीवन विसर्जित हो जायेगा। उससे यह तो होगा कि मरणकालमें तुम्हारे चरणमें रहेगी तो जन्मान्तरमें तुम्हारी प्रेयसी बनेगी ही। यही सही कि मरकर पायेंगे तुमको, सेवाधिकार मिलेगा और इसके सिवा दूसरी गति नहीं। इस प्रकारका अनुराग—विशुद्ध अनुराग। विशुद्धका अर्थ यही है कि जिसमें किसी प्रकारकी चाहकी कामनाकी अशुद्धि न हो। यह गन्दे सांसारिक कामकी तो बात ही तुच्छ है। अन्तःकरणकी शुद्धिके पहले ही इसका त्याग हो जाता है। जिसमें कोई भी किसी भी प्रकारकी कामनाका कलंक न रहे, अशुद्धि न रहे वह है विशुद्ध अनुराग।

गोपांगनाओंके विशुद्ध अनुराग और उनकी अनन्य उत्कट सेवाकांक्षा वन्दनीय है। अनन्य उत्कट—अनन्य तो हैं परन्तु उसमें यदि उत्कटता नहीं होती, तीव्रता नहीं होती तो भी देर हो जाती। मिलेगा वही पर आज नहीं फिर कभी। पर वह इतना तीव्र आवेग है कि क्षण भरका वियोग सहन नहीं कर सकता। एक तो विशुद्ध प्रगाढ़ अनुराग और दूसरे अनन्य उत्कट सेवाकांक्षा इसके द्वारा भगवान्की योगमायाका दर्प चूर्ण हो गया। इस योगमायाने सबको उगा। बड़े—बड़े लोगोंकी वंचना की कि ले लो भुक्ति, ले लो भुक्ति, तुमको राज्य दे देंगे, जाओ। उपनिषद्कालमें नचिकेता यमराजके सामने जब गया तो वह तो जीत गया पर बहुत थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो इस योगमायाके सामने विजय प्राप्त करें। हार ही जाते हैं। (इस योगमायाकी बात सुनकरके योगनिद्रामें नहीं

फँसना चाहिये और नींद आवे तो बाहर चले जाना चाहिये ।)

भगवान्की इस रासक्रीडामें 'योगमायामुपाश्रितः' का अर्थ है कि वंचनाकी मायाको भी लेकर ये आवे और इसको ले करके ही रमणकी इच्छा की। पर यह योगमाया यहाँपर पराभूत हो गयी। यज्ञपत्नियोंकी भाँति इनकी वंचना यहाँ सफल नहीं हुई। गोपियोंके परम प्रेमके वशीभूत होकरके योगमाया वंचनावाली रहने पर भी उन्होंने रमणकी इच्छा की।

इसके बड़े-बड़े अर्थ होते हैं। फिर कहा है कि भई ! 'योगाय श्रीकृष्णेन सह मिलनाय मायः शब्दो यस्या सा योगमाया।' श्रीकृष्णके साथ मिलनकी व्यवस्था करा देनेवाली जो ध्वनि है उसका नाम योगमाया है। इस प्रकार अर्थ करनेपर योगमायाका तत्त्व और अर्थ ग्रहण किया जाता है। भगवान्की मुरली, वंशी जो है यह योगमाया सिद्ध होती है। यह श्रीकृष्णकी वंशी है न ! यह वंशीरव ही श्रीकृष्णके मिलनका आकर्षण यन्त्र है। इसपर भक्तोंकी प्रेमियोंकी बड़ी-बड़ी सुन्दर-सुन्दर कल्पनायें हैं। वंशीके नादने किस-किस प्रकारसे किस-किसका मन हरण किया, कैसे-कैसे किया वंशी-ध्वनिने, इसकी बड़ी मधुरकथा है। इसपर सूरदासके और अष्टछापवालोंके तथा और महात्माओंके हजारों-हजारों पद हैं, अनुभवके—वंशीध्वनिपर।

प्रातःकाल भगवान् क्या करते हैं—जब छोटे बच्चे थे तो उनके सखा अपनी-अपनी माताओंके पास सोये रहते हैं, माताएँ हाथ फेरती रहती हैं। बच्चे सब सोयें तो इनको चैन पड़ती नहीं। देर हो जाय। कभी बछड़ोंको लेकर जाय कोई और अकेले जानेमें मजा आवे नहीं इनको। हैं अकेले पर यहाँ बिना संगीके मजा आवे नहीं। तो यह क्या करते हैं। मैयासे कहते हैं मैया ! जरा टहर जा, मैया कहती कलेवा करके जाना लेकिन ये कहते जरा टहर जा। अभी आता हूँ तो घरके बाहर दरवाजेपर जाकर जोरसे मुरली फूँकते हैं। जहाँ मुरलीकी ध्वनि जाती है। सुबल, सुदाम सब-के-सब दौड़ते आते हैं कि कन्हैयाकी मुरली बज गयी। तो बस, कन्हैयाकी मुरली सुनते ही ये सुबल, सुदाम, श्रीदाम, स्तोक कृष्ण और न जाने कौन-कौन छोटे-बड़े मैया लोग थे सब-के-सब दौड़ पड़ते हैं। तो मुरली ध्वनि क्या करती है ? जगाती है और मिलनकी आकांक्षा तीव्र करती है। क्या करती है ? कृष्णकी तरफ दौड़ा देती है और क्या करती है ? जल्दी पहुँचा देती है। तो भई ! भगवान्की मुरली ध्वनि कोई सुन पड़े। मुरली माने उनका आवाहन यन्त्रकी ध्वनि-बुलावे, उनके बुलानेके बाद कोई टहर नहीं सकता। चैतन्यको बुलाया,

आधी रातको बेचारे गंगा पार होकरके भागे ।

बुद्धको बुलाया, सिद्धार्थको, एक महीनेका बच्चा और लड़की—बहु घरमें छोड़के निकल गये । तो उनके बुलानेपर उनकी वंशी—ध्वनि सुनने पर कोई घरमें रह सके यह सम्भव नहीं और हम तो कहते हैं कि हमें वंशी ध्वनि कभी सुना मत देना । यह कहते हैं माया वंचना दूर रहे । वंशीरवके सुननेसे सबकी जागृति हो जाती है; श्रीकृष्णकी ओर जानेकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है । यह वंशी ध्वनि सुननेके लिये कानोंको तैयार रखना चाहिये । टीकाकार कहते हैं कि यह साधन है । वंशी—ध्वनिको सुनना, भगवान्‌के आवाहन मंत्रको सुननेके लिये कान लगाये रहना चाहिये । जब दो बुला लें सब छोड़के चले जायँ ।

वंशी—ध्वनि क्या करती है ? श्रीदाम, सुदाम, सुबलदि गोपबालकोंको माताकी गोद त्याग देनेके लिये बाध्य कर देती है । मातृ क्रोड (गोद)का परित्याग करके कृष्णके निकट दौड़े चले आते हैं; और फिर क्या करती है वंशी ध्वनि ? जब संध्याका समय हुआ, गायोंको बटोरना है तो कहाँ दूँढते फिरेंगे, चढ़ जाते हैं कदम्बपर और जाकर वंशी—ध्वनि करते हैं । ध्वनि होती है तो सारी गायें दूर—दूरसे दौड़ी आकर वहीं इकट्ठी हो जाती हैं । सब—की—सब उर्ध्वपुच्छ—पूँछोंको उठा—उठाकर और हम्बारव करती हुई सारी गायें इकट्ठी हो जाती हैं और यमुना—समुद्रगामिनी यमुना विपरीत गतिसे लौटकर कृष्णके चरण प्रान्तोंमें लुट पड़ती हैं । यह प्रसंग आया है कि वंशीध्वनिसे—यमुनाकी गति बदल जाती । यमुना स्वाभाविक बहती है समुद्रकी ओर पर इनकी जब वंशी ध्वनि होती है तो यमुनाकी गति पलट जाती है । यमुना चाहती है कि जल्दी—से—जल्दी आकर उमड़कर श्यामसुन्दरके चरणोंको धो दे । यह वंशी—ध्वनिका जादू और वंशी—ध्वनिको सुनकर यह ब्रजवधुयें घरके कामोंको, कुलधर्म इत्यादिको, जलांजलि देकर कृष्णके पास आ जाती हैं । जलांजलि होता है मरनेके बाद जो तर्पणमें जलांजलि देते हैं । तो सारे कुल धर्म, गृहकर्म और अपनी ममताकी तमाम चीजोंको जलांजलि देकर कृष्णके निकट आ जाती है । इससे सिद्ध होता है कि यह जो वंशी है यह कृष्णके साथ मिलन करानेवाली एक माया—योगमाया यही है; और खासकरके गोपियोंके साथ कृष्णका मिलन करानेवाली सर्वश्रेष्ठ दूती यह वंशी ध्वनि ही है । इसलिये जब—जब श्रीकृष्णकी इच्छा होती है कि गोपियोंसे मिले तो किसीके पास आदमी नहीं भेजते, चिड़ी भेजनेकी आवश्यकता नहीं, बस ! मुरली फूँक देते हैं । जहाँ

मुरली बजी कि सब अपने—आप दौड़ी आयीं। आकर्षण जाग गया। कहते हैं कि यह जो वंशी है यह प्रिय सखी है।

श्रियः कान्ताः कान्तः परम—पुरुषः कल्पतरु

द्रुमाभूमिशिचन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।

कथा गानं नाट्यं गमनपि वंशी प्रियसखी

चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदा स्वाद्यमपि च ॥

(ब्रह्मसंहिता ५-५६)

यह ब्रह्म संहिताका मंत्र है। गोलोकधामका वर्णन करते हैं कि वहाँ क्या चमत्कार है। कहते हैं कि जो कृष्णकी कान्ताये हैं यह तो साक्षात् लक्ष्मी हैं और कान्त स्वयं भगवान् परम पुरुष श्रीकृष्ण हैं—'कान्तः परमपुरुषः' और उनकी लीलारथली वृन्दावनके जो वृक्ष है, ये सारे—के—सारे दिव्य कल्पतरु हैं और यहाँकी जो भूमि है यह चिन्तामणिमयी है और यहाँका जल ही अमृत है, यहाँकी बोली ही गान है। बोली बोलते हैं मानो गाते ही हैं—ऐसी मीठी और यहाँका चलना ही मानो नाचना है। सब नाचते हुये चलते हैं मौजसे। यहाँ शोक तो आता नहीं विषाद आता नहीं, भय आता नहीं तो यहाँ सबका जीवन नाचता है। वंशी प्रिय सखी है। ये चन्द्र, सूर्यादि, ज्योतिर्मण्डल और शब्द, स्पर्शादि जितनी भोग्य वस्तुएँ हैं सब यहाँ पर सच्चिदानन्दमयी हैं।

श्रीकृष्णकी वंशी साधारण वंशीकी मॉति कोई बजनेवाली चीज नहीं है। यह बाजा नहीं है। यह तो श्रीकृष्णके साथ मिलन करा देनेवाली सर्वश्रेष्ठ दूती है। यह जड बाँसकी बनी हुई चीज नहीं। यह सच्चिदानन्दमयी है। यह कैसे मानें ? गोपियों परम प्रेमवती थीं और श्रीकृष्णको अपना मन दे चुकी थीं यह भी ठीक और समुत्कण्ठित भी थीं यह भी ठीक, परन्तु धैर्य, लज्जा, कुलशील, मान इत्यादि जो बेड़ियों पड़ी हुई थीं इन बेड़ियोंको तोड़कर श्रीकृष्णके समीप पहुँचना उनके लिये बड़ा कठिन था। मिलनोत्कण्ठामें धैर्य, लज्जादि बड़े भारी बन्धन थे। इनको हटाना बड़ा मुश्किल है। परन्तु इस वंशीने जादू कर दिया। जहाँ यह वंशी बजी और जहाँ वंशीकी ध्वनि श्रीगोपांगनाओंके कानोंमें पहुँची कि सारे बन्धन पटापट टूट गये। अपने आप बन्धन सारे छिन्न हो गये और वे उसी क्षण श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये दौड़ पड़ी। अतः श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका मिलन करा देनेमें परम सहायता करनेवाली यदि कोई है तो वंशी ध्वनि ही है। श्रीकृष्ण भगवान् है, ईश्वर हैं, ऐश्वर्यके द्वारा भी उनको बुला सकते थे पर ऐश्वर्यसे उनको बुलाते तो

ऐश्वर्यमें ही ढिठाई—लीला होती। मधुरलीला नहीं होती। राजा हैं अगर मुरलीके बदले परवाना—वारंट भेज देते कि जाओ ले आओ तो वहाँ डर रहे, मान रहे, संभ्रम रहे, लज्जा रहे, संकोच रहे न मालूम क्या—क्या रहे तो मधुर लीला होती नहीं।

भगवान्ने जब मधुर मिलनके द्वारा रसास्वादन करनेकी इच्छा की तो वंशी दूतीकी सहायताके बिना उनके पास कोई गति नहीं। इसलिये वंशीकी सहायतासे उन्होंने रासक्रीडा करनेकी इच्छा की—‘योगमायामुपाश्रितः’। फिर कहते हैं बड़ी सुन्दर बात कि यह वंशी जो है यह न तो मत्स्य, कूर्म, वाराहादि अवतारमें रही और न ही भगवान्के समावतारमें ही रही। भगवान्ने बड़ी—बड़ी लीलाएँ की और सारी लीलाएँ भगवान्की परम दिव्य हैं। कोई भी लीला कम हो तात्त्विक दृष्टिसे सो बात नहीं। सभी लीलाओंमें योगमाया भी साथ थी। पर वंशी—योगमाया जो है यह तो बस यहीं पर है। वंशीधारी जो कृष्ण हैं—भगवान् वंशीधारी, ‘भगवानपि’ यह वंशीधारी भगवान् यहाँके सिवा कहीं नहीं। भगवान्की सारी मूर्तियोंमें शंख रहे, चक्र रहे, गदा रहे, पद्म रहे, बाण, खड्ग इत्यादि यह भी रखे हैं। कुरुक्षेत्रमें गये तो वहाँ भी चक्केको बुला लिया। चक्का उठाकर घुमाया तो वह सुदर्शन चक्र बन गया। लेकिन यह ब्रजमें भगवान्ने वन—वनमें घूम—घूमकर वंशी ध्वनि की। कुंज—कुंजमें, यमुनाके पुलिन—पुलिनपर, गोवर्धनकी तराईमें, गोवर्धनके ऊपर, सड़सीके पेड़पर सुखसे विचरण करते हुये भगवान्ने जो परममनन्द रसास्वादन किया और उसका वितरण किया उसमें वंशीकी परम सहायता रही। इसलिये वंशीको उन्होंने कभी छोड़ा नहीं।

एक दिनकी बात है ये जाकर कहीं निकुंजमें छिप गये। इनको भजा आता है इसमें कि कुछ उत्कंठा बड़े, कुछ लोग हमको ढूँढे। योगियोंका ढूँढना दूसरा होता है उसमें माधुर्य नहीं होता है। वहाँ आँख मीचके बैठे हैं। ऐसा टीकाकार कहते हैं। इसमें कान खींचने, आँख मीचनेकी आवश्यकता नहीं है। यह तो दौड़े खुले आम उनके पीछे—पीछे, अब ढूँढो। यह जाकर निकुंजमें घुसे और घुसकर एक पेड़की आड़में हो गये तो ये गोपियाँ वहाँ पहुँच गयीं। तब इन्होंने देखा कि अब तो पकड़े जायेंगे तो नारायण बन गये। शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी बड़े सुन्दर, विशाल नेत्र और बड़े सुन्दर—सुन्दर आभूषण पहने हुये। मुकुटधारी तमाम दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित भगवान् खड़े वहाँपर। गोपियाँ आश्चर्यमें पड़ गयीं। सम्भ्रम हो गया, भय हो गया और इनके सामने खड़े होकर हाथ जोड़ लिया। मुस्कुराये और बोले क्यों ? तब हिम्मत करके

बोलीं, हे नाथ ! हमारे श्यामसुन्दर कहीं चले गये हैं। आप कृपा करके बता दीजिये कि कहीं हैं ? तो उस रूपको देख करके सहम गयीं। सम्भ्रमवती हो गयी। मानवती हो गयीं। इसका मान करना है, इसके सामने हाथ जोड़ना है। नहीं तो कहीं कृष्ण मिल गये होते उस दिन वहाँपर तो फटकारती। पर चुपचाप रहीं तो उन्होंने इशारा आगे कर दिया। उन्होंने रोचा नहीं कि क्यों इशारा किया। वह तो वो जाने। गोपियाँ बेचारी चल दीं वहाँसे आगे।

यहाँ पर व्रजमें शंख, वक्र, गदा, पद्मका, सारंग धनुषका काम नहीं। यहाँ तो वंशीने बहुत कुछ किया साथमें। सिंगा ही ले लिया बजानेके लिये। बस ! सिंगा और वंशी इन दोनोंको लेकर ही ये घूमे। यहाँतक कि असुरोंको जब मारा यहाँपर, तो असुरोंके मारणमें भी इन्होंने किसी आयुधका प्रयोग नहीं किया व्रजमें। हथियार लिये हों तो बताइये। बड़े-बड़े असुरोंको मारा, तृणावर्त, अघासुर, बकासुर, पूतना पर कहीं हथियार हाथमें लिया ? इनका तो वही हथियार—खेल ही हथियार, बच्चोंकी भाँति खेलते-खेलते ऐश्वर्य शक्तिने प्रकट होकर उनका वध कर दिया। न तो कोई आयुध और न कहीं सैन्य—रामन्त—कोई सेना—सेनापति इनके साथ रही। बन्दरोंकी भी फौज यहाँ रहती कहीं साथ तो माखन खानेमें रहती है, लड़नेमें नहीं रहती। वहाँ मधुर-मधुर, मीठा-मीठा माखन मिलता तो सब बन्दरोंकी फौज साथ हो जाती। यह नहीं कि बन्दरोंको कहीं बाण लगे और उनको किसीको काटनेके लिये दौड़ना पड़े, लंकाकाण्डवाली बात। यह बन्दर भी यहाँ सेवामें साथ नहीं। न तो कोई सेनाका संग्रह, न कोई आयुधका संग्रह, न कोई उग्र मूर्ति और न कोई दो-चार हाथ और न ही कोई लम्बा युद्धकाल। राक्षस आया तो खेलते-खेलते समाप्त कर दिया घड़ी भरमें ही। यह नहीं कि वर्षोंतक युद्ध चलता रहा रावणके साथ। इसलिये नारदजीने कहा—

ये दैत्या दुश्चकाहम् त्वम् चक्रेनापि स्थांगना।

ते त्वया निहत्य कृष्ण नव्ययाबाललीलायां ।।

सा क्रीडन भूभंगं कुरुषु यदि।

संशंका बहुर्द्वाङ्ग्या कम्पन्ते षष्टिता तदा।

यह ब्रह्माण्डपुराणका वचन है तो नारदजीने कहा कि चक्रधारी नाशयण चक्र धारण करके भी जिन असुरोंका विनाश सहजमें नहीं कर सकते। आप नयी-नयी बाललीलासे कर दिये। वह भी बाललीलाका एक अंग हुआ, वह भी खेलकी एक पद्धति ही हुई असुर मारन। उसमें कोई

असुरभारनका प्रयास नहीं किया। वह भी एक खेलका ढंग। श्रीकृष्णने नयी-नयी बाललीला करते हुए उन सबका विनाश कर दिया। आपकी कृष्ण लीलाका जो अपरिसीम माहात्म्य है यह कहा नहीं जा सकता। आज सुदामा, श्रीदाम, सुबल आदि गोपबालकोंके साथ गोष्ठमें खेलते-खेलते जहाँ बाललीलावश—खेलमें देखा टेढ़ी भौंह कर दी गुस्सेमें तो महाराज जो आकाशमें ब्रह्मादि देवता हैं वे भी डरने लगे। यह कन्हैयाने खेलते-खेलते भौंह टेढ़ी कैसे कर दी। यह स्थिति।

यह भगवान् वंशीधारी श्रीकृष्ण इनकी लीला बड़ी अद्भुत और बड़ी मनोरम। कितनी और दूसरी मूर्तियाँ हैं। बढ़िया-से-बढ़िया मूर्ति हो, सुन्दर-से-सुन्दर हो पर ये जब हाथमें मुरली ले करके और शरीरमें तीन टेढ़ बनाकर, बड़ी बकिमाके साथ जब कदम्बके नीचे खड़े हो जाते हैं तो फिर इस मूर्तिको देखकरके सारा सौन्दर्यका सागर भी सूखने लगता है इनके सामने। तमाम-तमाम लोग मोहित हो जाते हैं ये किन्नर, गन्धर्व इत्यादिकी तो बात ही क्या है कामदेव भी मूर्छित हो जाते हैं कि हम तो मरे और मर ही जाते हैं यहाँ रहते नहीं। सारा काम सौन्दर्य प्रतिहत होकर अपना जीवन लेकर भागता है कि यहाँ रहेंगे तो मर जायेंगे। इस सौन्दर्यके सामने जल जायेंगे, रहेंगे नहीं। इस प्रकारकी सुन्दरता इस मुरली मनोहर रूपमें है। तो कहते हैं कि श्रीकृष्णकी मूर्तिमें और लीलामें जो सौन्दर्य-माधुर्यका प्रकाश है वह ब्रजमें ही है। बोले—

चतुर्धा माधुर्यं तस्य ब्रजैव विराजते

ऐश्वर्यं क्रीड वेणुस्तथा श्रीविग्रहरश्च

भगवान्के माधुर्य-सम्पुटित ऐश्वर्य, गोप-गोपीगणोंके प्रेमसे मुग्ध होकर प्रेममयी लीला, समस्त प्राणियोंके मनको हरण करनेवाला वेणुनाद और अपने आपको भी आकर्षित करनेवाला श्रीविग्रह-सौन्दर्य-माधुर्य-रूप यह केवल ब्रजधाममें ही है और कहीं नहीं। यह मूर्ति कहीं नहीं। यहाँ पर 'भगवान्पि ता रात्रीः' जिन भगवान्ने लीला की वह भगवान् कौन ? वंशीधारी भगवान्, मुरलीधारी भगवान् यह यहाँ पर भगवान्का स्वरूप है। क्योंकि यह मुरलीधारी भगवान्के बिना दूसरे किसी आयुधधारी भगवान्के लिये यह परमरमणीय रमणलीला कभी सम्भव ही नहीं है। यह मुरली मनोहर जो भगवान् हैं इनको छोड़कर किसी दूसरे आयुधधारी—वो भगवान् ही हैं पर उनके लिये यह रमण लीला सम्भव नहीं, और लीला भले वे कर लें। इस लीलामें प्रेममत्त गोपियोंके रास-नृत्य है। प्रेम-आलस्य-शिथिल

बाहु-लता द्वारा श्रीकृष्णका कण्ठालिंगन होता है। कृष्णमय पीतवसन द्वारा उनके श्रमजलसक्त वदनोका मार्जन करते हैं। उनके कपोलके साथ कपोल-संस्थापन करके चर्बित ताम्बुल अर्पण करते हैं। वन-विहार, नृत्य-गीतादि, यमुना-विहार करते हैं। यह मुरलीधारीके सिवा और कहीं नहीं हो सकता।

'गोपवेष वेणुकर किशोर नटवर' बस, यही वेष रासलीलाका है। श्रीकृष्णके वंशीरवको सुनकर कृष्णगतप्राणा व्रजरमणियोंका कृष्णके साथ मिलन हुआ। यहाँ पर योगमाया वंशी ही रासक्रीडामें प्रधान सहायिका और अपार धैर्य लज्जादिशालिनी अन्तःपुरचारिणी गोपकुलकामिनी अपने-अपने लज्जा, धैर्य आदि सारे बन्धनोंको छिन्न करके इस वंशीकी प्रेरणासे ही, वंशीके द्वारा आकर्षित हो करके ही उन्होंने इस योगको प्राप्त किया। वंशीने क्या किया ? यह योगमायाके रूपमें केवल श्रीकृष्णके साथ इनका योग करा दिया और गोपियोंके साथ उनके पति, भ्राता, पुत्र, मित्र, स्वजन, आत्मीय, वेदधर्म, लोकधर्म, देहधर्म, कुल, शील, लज्जा, धैर्य इत्यादि सबके साथ अयोग करवा दिया। यह वंशी है अयोग माया और वंशी ही योगमाया है। कहते हैं कि लज्जा, शील जो है यह तो मोहका किला और गुरुजनका मान डर यह सिंहद्वार। इस किलेका धर्म इसके किवाड़ और कुलका अभिमान इसका बड़ा भारी ताला। इसपर बिजली गिरी। बिजली क्या गिरी ? वंशीरव मानो यहाँ बिजली आयी। यह किला ढह गया।

लज्जा शील मोहगृह भारी, सिंहद्वार गुरुजनका मान।

धर्म-कपाट लगे थे अति दृढ़, ताला था कुलका अभिमान।।

वंशीरवके वज्रपातसे टूटा लज्जा-दुर्ग महान।

भूमिसात हो गया सभी कुछ, हुई भूमि सब एक-समान।।

(पद-रत्नाकर, पद सं० ७४३)

भूमि बननी चाहिये। तो वंशीरवने भूमि बनायी। दौड़ने योग्य भूमि बन गयी। अगर वंशीरव नहीं तो नाच कैसे हो। वंशीरवने भूमिका बनायी। जिस भूमिकापर चलकरके श्रीगोपिकायें तमाम बाधा विघ्नोंसे बचकर निकल गयीं। नहीं तो इतनी बाधा होती है कि लोग कथामें नहीं आते हैं। कहते हैं लज्जा आती है, मान मंग होता है। बोले हमारा इतना शील है और हम फालतू आदमीकी तरह जाकर बैठ जायें। मानसका वर्णन किया मानसकारने वहाँ विघ्न बताये कि यह अटपटा लगता है। यह गोपियोंके लज्जा, शीलका नहीं

हम सबको लगता है। बोले—अपने इतने बड़े आदमी और वहाँ जाकर बैठें। अपने इस दर्जेके आदमी नहीं। हमारे दर्जेका जहाँ हो वहाँ जायें। क्लबमें चले जायेंगे, होटलमें चले जायेंगे, नाचघरमें चले जायेंगे, सिनेमामें चले जायेंगे पर कथामें, सत्संगमें, भजनमें उनका कुल-शील-मान बाधक बन जायगा। यह कुल-शील-मानका बड़ा किला है। यह ममताका बड़ा दुर्ग है। जब वंशी बजती है भगवान्की, जब वंशीका आह्वान होता है—उनके लिये तो होता है मधुर आह्वान और उनके कठिनाइयोंके किलोंको तोड़नेके लिये होता है वज्रपात।

रास-रसिक श्रीभगवान्के साथ योग और उनसे अतिरिक्त समस्त वस्तुओंमें अयोग हो। इन दोनोंका सम्पादन करनेवाली, स्थावर-जंगम-विमोहिनी वंशी योगमायाका अवलम्बन करके भगवान्ने प्रेमवती गोपियोंके साथ रास-नृत्य करनेकी इच्छा की। 'रन्तुं मनश्चक्रे' यह यहाँका प्रतिपाद्य है।

योगमायामुपश्रितः—भगवान्ने योगमायाका गुण-प्रकाशित कितने प्रकारसे किये इसके अनेक वर्णन मिलते हैं और सभी गुण ठीक हैं। अब इसका बड़ा सुन्दर अर्थ है। इस अर्थके बिना रासलीलाकी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं होती। उस अर्थको जानना भगवान्के कृपा-साध्यही है। उनकी कृपाके बिना यह अर्थ ध्यानमें नहीं आता और सब अर्थ तो आ जाते हैं। इसपर विचार करनेसे मालूम होता है कि जो रासचक्रका बीचकी कील है जैसे कोई चक्का घुमाओ तो बीचकी धुरी चाहिये। बीचकी कील न हो तो चक्का घूमे कहीं। तो रास चक्रकी मध्य कील, और रासनृत्यकी प्रधान नायिका, रासविहारीकी हृदयविहारिणी, रासरसरसिक श्रीकृष्णकी प्राणाधिका राधिकाके बिना रास कहीं रचित होता ही नहीं। यद्यपि भागवतमें स्पष्टतया राधाका नामोल्लेख नहीं है परन्तु जहाँ कृष्ण हैं और जहाँ रास है वहाँ एकमात्र राधा ही उसका प्रधान अवलम्बन हैं। उनके बिना यह क्रीडा सम्भव ही नहीं। अन्यान्य पुराणोंमें, तन्त्रोंमें इस विषयपर बड़ा विचार है। कहते हैं कि—'अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरीश्वरः' (श्रीमदभा० १०। ३०। २८) इस श्लोककी व्याख्यामें हम भी कहेंगे कुछ। यहाँ योगमाया शब्दका उद्देश्य यही मालूम होता है कि राधिकाको साथ लेकर भगवान्ने 'रन्तुं मनश्चक्रे'।

योगस्य संभोगस्य च मायः मानं पर्याप्तं यत्र सा योगमाया श्रीराधा कहते हैं यह मधुररसके मिलनका रसास्वादन है। यह रस शास्त्रकी बात है। मिलनका नाम है संभोग और अमिलनका नाम है विप्रलम्भ। तो मधुर रसमें मिलनके रसास्वादनका नाम ही संभोग है। श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णका

जिस प्रकारका मिलन रसास्वादन होता है वैसा रसास्वादन भगवान्की किसी लीलामें, किसी श्रीविग्रहमें, किसी प्रेयसीके साथ कभी सम्भव ही नहीं होता। इसका कारण देखनेपर मालूम होता है यह विषय ऐसा है कि जो समझनेका तो है पर है थोड़ा-सा कठिन।

कहते हैं कि भगवान्की प्रेयसियोंमें तीन श्रेणियाँ हैं—लक्ष्मी, महीषी और गोपी। इनमें लक्ष्मी जो है वह भगवान् नारायण मूर्तिकी प्रेयसी है, महिषियाँ भगवान् राघवेन्द्र, द्वारिकानाथ श्रीकृष्ण, मथुरानाथ श्रीकृष्ण इन भगवान्की लीला-विग्रहकी प्रेयसी हैं; नारायण रूपकी प्रेयसी लक्ष्मी आदि और महाराज-लीला-विग्रह—महाराजके रूपमें भगवान्के लीलाकी प्रेयसी यह महिषियाँ। ये भगवान् रामचन्द्र रूपकी, द्वारिकाधीश रूपकी प्रेयसी और गोपियाँ ब्रजबिहारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं। भगवान्का यह तीन प्रेयसी वर्ग है।

इन महिषियोंमें तीनों ही भगवान्को अपना निजकान्त मानती हैं और तीनों ही भगवान्की मधुरभावसे विविध प्रकारसे सेवा करती हैं। लक्ष्मीजी, राजाकी पटरानियाँ आदि भी और गोपियाँ भी। यह सभी उनको अपना कान्त मानती हैं और मधुर भावसे सेवा करती हैं इनमें जो लक्ष्मीजी हैं वह तो अनादिकालसे ही भगवान्की नित्य कान्ता हैं और वे मधुर भावसे ही नित्य सेवा पारायण रहती हैं। इसलिये लक्ष्मीजी नारायण-वक्ष-विहारिणी हैं। भगवान्के वक्षस्थलपर श्रीलक्ष्मी हमेशा रहती हैं। यह वक्ष-विलासिनी होनेपर भी ईश्वरज्ञानसे नारायणकी चरण सेवामें लगी रहती हैं। लक्ष्मीजीका कभी ईश्वर ज्ञान छिपता नहीं। ईश्वर ज्ञानसे लक्ष्मीजी नित्य मधुरभावसे सेवा पारायण हैं। इनका नारायणके साथ मिलन होनेमें न आदि है न अवसान है। अनादिकालसे अनन्तकालतक ये भगवान् श्रीनारायणके साथ रहती हैं। इनकी प्रेम सेवामें न तो मिलनोत्कण्ठा है और न विरहास्वादन है।

यहाँ पर समझानेका तात्त्विक विषय है। जिसमें मिलनोत्कण्ठा नहीं, जिसमें विरहास्वादन नहीं वह अधूरा प्रेमराज्य है। इसलिये यहाँकी जो मिलनासक्ति है और मिलनसुखानुभूति है वह अपूर्ण है। लक्ष्मीजीकी मिलनानुभूति—मिलन सुखानुभूति—यह अपूर्ण है और महिषियाँ, पटरानियाँ विवाह विधिके अनुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रादिके लीला-विग्रहके साथ या भगवान् श्रीद्वारिकाधीशके लीला विग्रहके साथ आजीवन पतिबुद्धिसे उनकी सेवा करती हैं। यद्यपि प्रथम मिलनके समय तो इनमें मिलनोत्कण्ठा है। रुक्मिणीजीमें, सत्यमामाजीमें अतीव उत्कण्ठा है परन्तु पत्नी रूपमें अंगीकृत

होकर मिल जानेपर और सेवा प्रप्तिमें कोई बाधा न रहनेपर उत्कण्ठा नहीं रहती। नित्यकी वस्तु प्राप्त हो गयी। इसलिये जो विवाह विधिके अनुसार भगवान्की पटरानियाँ हो गयीं वो विवाहके बाद निरुद्धेग-निर्बाध और निश्चिन्त मावसे पतिबुद्धिसे भगवान्की सेवाधिकारिणी होती हैं। उनकी जो सेवा है वह उत्कण्ठा रहित है। इन सबमें चार चीजोंका अभाव है। चार चीज वे क्या हैं ? एक तो है मिलनकी उत्कण्ठाका अभाव, दूसरी है नित्य-स्मृतिका अभाव, मिल ही गयी तो स्मरण कैसा ? तीसरी चीज है दोष-दर्शनकी सम्भावना—पत्नी अपने पतिको कह सकती है कि आज आपने भूल की या यह काम ठीक नहीं किया, ऐसा नहीं करना चाहिये और चौथी चीज है सकाम भावना—अपने लिये न सही, घरके लिये सही। तो ये चार बातें हैं—सकाम भावना, दोष-दर्शनकी सम्भावना, नित्य-स्मृतिका अभाव और मिलनोत्कण्ठाका अभाव। इसलिये इनका जो प्रेमसुखानुभव है वह अपूर्ण है। लक्ष्मीका भी अपूर्ण और राजरानियोंका भी अपूर्ण है। क्यों—

न विना विप्रलम्भेन संभोगपुष्टिमश्नुते

यह रसशास्त्रका सिद्धान्त है। उज्ज्वल नीलमणिका यह वाक्य है।

इस सिद्धान्तसे संभोग रसकी पुष्टि विरहके बिना, विप्रलम्भके बिना सम्भव नहीं। जहाँ निरन्तर मिलन है वहाँ विरहकी सम्भावना नहीं। वहाँ मिलनकी सुखानुभूति भी विरहके पश्चात् होनेवाले मिलनके समान नहीं। स्वाभाविक बात है। बेटाको ही ले लीजिये, बेटा रोज पास रहे तो माँ जानती है कि बेटा पास ही है रोज-रोज घरमें ही रहता है। उसके लिये कौन-सी उत्सुकता होती है पर परदेश चला गया। वर्ष-दो वर्ष-चार वर्ष बीत गये तब माँ भाव-विह्वल हो गयी। अब कहीं बेटा आता है तो सब कुछ मूलकरके माँ उसके लालन-पालनमें लग जाती है; यह सुख रोज रहनेवाले बेटेके साथ नहीं होता। इसी प्रकार सभी रसोंमें वात्सल्यमें भी, सख्यमें भी, मधुरमें भी यही पद्धति है।

इसलिये सुखानुभूति विरहके बादके मिलनमें जो होती है वह नित्य मिलनमें नहीं होती। जैसे एक तो भूख लगनेपर अन्न खाया जाय और एक रसोई पकनेपर बैठ जाय कि भूख लगे न लगे अपने थालीपर बैठ गये कि कुछ खा ही लो तब आनन्द नहीं आता। बढ़िया-से-बढ़िया चीज परोसी हुई हो और भूख नहीं लगे तो खानेमें आनन्द नहीं आता। चीज बढ़िया है पर कहीं भूख जोरसे लगी हो और वहाँ अगर बढ़िया चीज मिल जाय तो फिर कहना ही क्या ? भूख लगने पर आनन्द तो घटिया चीजमें भी आ जाता है और फिर

मनमें श्रीकृष्णके प्रति और राधा तथा गोपियोंके प्रति लौकिक बुद्धि हो उनको यह प्रसंग नहीं सुनना—सुनाना चाहिये। नहीं तो अपराध होगा उनका। श्रीकृष्णका तो कुछ बिगड़ेगा नहीं लेकिन जो उनमें लौकिक बुद्धि करके और अपनी उस बुद्धिके अनुसार लौकिक अर्थ लेंगे उनका अपराध होगा। अब विषय ऐसा आयेगा कि जिसमें यह सिद्ध किया जायेगा कि लौकिक भावानुरूप ही भगवान्ने रमणकी इच्छा की, भगवत् भावानुरूप नहीं। इसीलिये सावधान किया गया है।

भगवान्की कान्ताओंके तीन रूप हैं। लक्ष्मी, महीषी और व्रजांगनाएँ। भगवान् नारायणकी नित्य स्वरूपभूता जो लक्ष्मी आदि हैं—वे लक्ष्मी हैं, श्री हैं, भू हैं, लीला हैं—अनेक उनके नाम हैं। वे सारे लक्ष्मीके ही भेद हैं। वे भगवान् नारायणकी—विष्णुभगवान्की अन्तरंगा देवी हैं, उनकी स्वरूपभूता हैं और महिषियाँ जिनका विवाह पद्धतिके अनुसार भगवान् राघवेन्द्रके साथ रामावतारमें, द्वारिकाधीश भगवान् श्रीकृष्णके साथ इस कृष्णलीलामें विवाह सम्पन्न हुआ है वे राजमहिषियाँ भी कान्ता हैं। ये राजमहिषियाँ और लक्ष्मी यह स्वकीया कान्ता भावसे भगवान्के साथ सम्बन्ध रखती हैं और रसास्वादन करती हैं। ये पतिव्रता शिरोमणि हैं और श्रीराधाजी परकीया कान्ताभावसे सम्बन्ध रखती हैं और लीला रसास्वादन करती हैं। पर इनका त्याग इतना ऊँचा है कि ये पतिव्रता शिरोमणियोंके द्वारा पूजित हैं।

ऐसा प्रसंग आता है कि जिसमें पतिव्रता सती शिरोमणिके रूपमें अरुन्धती, अनुसूया, सती इत्यादिने मिलकर राधाकी पूजा की है। इसलिये जितना राधामें निजसुखका विस्मरण और परित्याग है जो केवल पतिसुख चाहनेवाली देवियोंमें होना चाहिये वह अन्य कहीं नहीं है। निजसुखकी कमी—न—कमी कुछ—न—कुछ चाँछा किसी—न—किसी रूपमें रहती है। इसीलिये यह नाम तो परकीया है पर परकीया भाव होनेपर भी यह भाव—परकीया है। परकीयासे निजसुखकी इच्छा रहती है। उसका इसके साथ अत्यन्त विरोध है। यह पतिव्रताओंके द्वारा पूजित हैं। हमारे पूज्य करपात्रीजी महाराज कहा करते थे कि यह अनुसूया, अरुन्धती, पार्वती इत्यादि जो देवियाँ हैं ये राधाकी उपासना किया करती हैं इसलिये कि त्यागकी शिक्षा मिले।

परकीया भाव क्या है ? इसमें रसका उल्लास होता है और व्रजके अतिरिक्त यह रस कहीं नहीं है। व्रजवधुर्यें इस भावकी सीमा हैं और राधा जो है ये सीमातिरेक—सीमाको भी पार किया जो महाभाव है वह इनमें है। श्रीगोपांगनाओंके

भावोंका आत्मप्रकाश निरूपण करते हैं—प्रीति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। जहाँ प्रीति है वहाँसे प्रारम्भ होता है गोपीभाव और गोपीभावकी पूर्ण—परिणति है महाभावमें और महाभावरूपा श्री राधाजी मानी गई हैं। उनमें मोहन और मादन नामक दो भेद और हैं जो राधाजीके अतिरिक्त और कहीं अन्यत्र सम्भव नहीं हैं। ऐसा मानते हैं। इसलिये इस रासलीलाकी जहाँपर चर्चा हो वहाँपर यह मानना चाहिये कि यह भाव जगत्की दिव्य चीजें हैं। इनका सम्बन्ध हमारे तरहके शरीरोंके साथ नहीं है तो—

प्रौढ निर्मल भाव प्रेम सर्वोत्तम।

कृष्णेर माधुरी आस्वादनैर कारण॥ (चै० च० १।४।४४)

यह जो प्रेम है यह प्रौढ है, निर्मल है और सर्वोत्तम है। जिस प्रेममें कहीं भी किसी भी प्रकारकी कामनाका, स्वसुखकी इच्छाका कलंक है वह प्रेम निर्मल नहीं होता है। वह प्रेम उत्तम ही नहीं चरमोत्तम कहींसे होगा। वह तो निकृष्ट काम कलुष चित्तकी विकार लीला है—प्रेमलीला नहीं। यहाँ प्रेम केवल श्रीकृष्णके माधुर्यका आस्वादन, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये है। इस भावसे श्रीगोपांगनाओंकी यह मनोभिलाषा और उनकी मनोभिलाषाकी पूर्तिके लिये श्रीकृष्णका उनको वंशीधनिके द्वारा आवाहन करना है।

इसलिये यहाँ जो चीज है वह अत्यन्त दिव्य होनेपर भी इस भावके अनुरूप इसका नाम है—ज्वरभावमयप्रेम। यह श्रीगोपांगनाओंका श्रीकृष्णके प्रति था और उनकी उस उत्कण्ठाने ही उनके द्वारा सर्वत्याग करवा दिया। वे सर्वस्व त्याग करके, सर्वस्वका सर्वथा परित्याग करके श्रीकृष्णके चरणोंमें जाकर उपस्थित इस प्रकारसे हो गयीं कि जैसे कोई नित्य—नित्य सदाके लिये भगवत्—चरणारविन्दका किंकर होकर उनके चरणोंमें स्थान पा जाता है। भगवान्की यह लीला परम मधुर परम दिव्य है। श्रीगोपियाँ वहाँ गयीं। इसके बाद श्रीकृष्ण रासस्थलीसे जब अन्तर्धान हुये तो वहाँ पर 'अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः' (१०।३०।२८) यह वर्णन है। इस श्लोकमें श्रीराधिकाका ही सौभाग्य कीर्तन गोपियोंके द्वारा किया गया है। राधिकाके प्रेममें कोई विशेषत्व है जो और कहीं नहीं है। इसलिये उनके साथ लीला—विलासमें ही श्रीकृष्ण पूर्ण आनन्दास्वादन करते हैं और वहीं मिलन हुआ। यही रासलीलामें अभिप्रेत है।

यह माना गया है कि इस लीलामें प्रधान नायिका दो हैं। सर्वगोपी प्रधान दो हैं एक श्रीराधिकाजी और एक श्री चन्द्रावलीजी। इन दोनोंके दो समूह

हैं, अलग-अलग। इनमें श्रीराधिका जो है वे श्रीकृष्णकी नित्य वल्लभा हैं।

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।

महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी।।

(उज्ज्वल नीलमणि। राधा प्र०। २)

यह जीवाग्रेस्वामीके वाक्य हैं कि राधिकाजी और चन्द्रावलीजी दोनों ही यूथेश्वरी हैं और दोनों ही सर्वप्रधाना हैं और दोनोंमें राधिकाजी श्रेष्ठ मानी गई हैं। क्योंकि ये महामावस्वरूपा हैं और श्रीकृष्णकी जिससे प्रीति होती है, सुख होता है इस प्रकारके अनन्तगुणोंसे समन्विता हैं। इन राधिकाके साथ मिलन रसास्वादनके लिये ही श्रीकृष्णका यह अनन्य उत्कण्ठायुक्त प्रयास है। राधिकाके साथ विविध विलास ही श्रीकृष्णका पूर्णतम सम्भोग है। यह सम्भोगका अर्थ पहले आ गया है। सम्भोगका अर्थ है—मिलन, सम्भोगका अर्थ है—स्वरूपानन्द वितरण, सम्भोगकत्र अर्थ है—प्रेमास्पदकी सुख-सम्पत्तिका सम्पादन। यहीपर पूर्णतम है। यहाँ इस योगमाया शब्दके द्वारा इसीलिये राधिकाका अर्थ किया। श्रीकृष्णका पूर्ण सम्भोगकी बात यहाँपर कहनी है और पूर्ण सम्भोग राधिकाके बिना सम्भव नहीं। श्रीकृष्ण श्रीराधिकाके मिलनका रसास्वादन करना चाहते हैं। इसीलिये अंसख्य गोपियोंका यहाँ आवाहन है।

राधा-सह क्रीडा-रसवृद्धिर कारण।

आर सब गोपीगण रसोपकरण।। (चै० च० १। ४। १७७)

अन्य-अन्य गोपीवृन्द जो हैं वह तो रसोपकरण हैं और क्रीडारस-आस्वादनमें कारण हैं। यह भेद है। यह गोपियोंका बड़ा भारी त्याग है। इसीलिये कि श्रीगोपांगनाएँ भगवान्के साथ इस प्रकारका प्रणय-सम्बन्ध रखते हुए भी श्रीराधाकृष्णके मिलनका कार्य सम्पादन करती हैं और कुछ नहीं करतीं। यह रसोपकरण हैं। श्रीकृष्णकी जो अनन्त प्रेयसियों हैं उनमें राधिका सर्वश्रेष्ठा है। उन्हींके साथ मिलन है श्रीकृष्ण रूपमें, यह रसास्वादन ही यहाँ है। इसीलिये उन्हींको योगमाया कहा गया है। श्रीकृष्णको 'योगमायामुपाश्रितः अर्थात् 'सर्वप्रियावलीं मुख्याम् श्रीराधिकां मनश्चिन्तितः सन्'

श्रीराधिकाके साथ मिलन रसके रसास्वादनका संकल्प करके 'रन्तुं मनश्चक्रे'—रसक्रीडा करनेकी इच्छा की। कहते हैं कि श्रीमद्भागवतमें टीकाकारोंने विविध भीतिसे व्युत्पत्ति करके योगमाया शब्दका राधा अर्थ प्रतिपादन किया है और राधाको ही रसलीलाके मूल स्तम्भके रूपमें माना है। हमने तो यहाँ उसमें दो प्रकारका उल्लेख करके रसास्वादन करनेकी चेष्टा की है।

शधिकार्के सम्बन्धमें कुछ विशेष बात और कहनी है। यहाँ तो 'भगवानपि ता रात्रीः' यही प्रसंग है तो यहाँतक योगमायाके सम्बन्धमें बातचीत हुई। कुछ विशेष समझनेके लिये एक बात और है। अचिन्त्य अनन्त महाशक्ति निकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी परम मधुर रासलीलाका वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर, परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजीने 'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' इस भाषामें रमणेच्छाका वर्णन किया। कवि जो होते हैं वो ऐसी बात कहते हैं जिसमें थोड़ेसेमें कहा जाय और पूरी बात आ जाय। यह साहित्यिक विषय है परन्तु उससे मिला हुआ है।

कहते हैं कि उन्होंने 'रन्तुं मनश्चक्रे' न कहकर 'रिरंसामास किंवा रन्तुं एष' अथवा रन्तुं एष' ऐसा कह देते तो थोड़ेमें ही वक्तव्य प्रकट हो जाता और यह वाक्य है ऐसा 'मितन्तु सारन्तु वचो हि वाग्मिता'। वाग्मिता तो उसीका नाम है कि थोड़ेसेमें सार बात कह दे। बहुत विस्तारसे कहना तो बकवाद कहलाता है। वाग्मिता वास्तविक वह है जो मित और सार—थोड़ेसेमें सार बात कह दे। जो मितभाषी होते हैं वे असार बहुत कम बोलते हैं। जो बहुत बोलनेवाले हैं उनको चूँकि बहुत बोलना है इसलिये वो चाहें जैसे बका करते हैं पर जो मितभाषी होते हैं थोड़ा कम बोलनेवाले और उनको जरा अपनी बात समझानी है तो थोड़ेसेमें सार-सार बात कह देते हैं। ज्यादा नमक-मिर्च नहीं लगाते। शुकदेवजीके समान वाग्में कौन होगा ? भगवान् व्यासके समान वाग्में कौन होगा जो वाग्मणि-शिरोमणि हैं। अतः अपना वक्तव्य प्रकाशित करनेके लिये इतना लम्बा वाक्य क्यों कहा उन्होंने और फिर दूसरी बात यह है कि केवल कवि ही नहीं परमहंस शिरोमणि जो शुकदेवजी हैं ये तो व्यर्थ बात कहना जानते ही नहीं। यह तो मुनि हैं। जो सार चीज है वही कहना जानते हैं इससे अधिक ये कहते नहीं। स्वभाव नहीं इनका व्यर्थ बोलनेका। उन्होंने यहाँ 'रिरंसामास किंवा रन्तुं एष' न कहकर 'रन्तुं मनश्चक्रे' कहा इससे मालूम पड़ता है कि कोई विशेष तात्पर्य है। तो क्या तात्पर्य है ? यह साहित्यकारोंका जरा समझनेका विषय है। (स्वामीजी इसको समझेंगे, यह व्याकरण शास्त्री पण्डित है। हम तो खाली कही हुई बाच देंगे।)

शुकदेवजी जो 'भगवानपि रिरंसामास किंवा रन्तुं एष' कहते तो क्या सिद्ध होता कि अखण्ड इच्छाशक्तिमान् भगवान्ने रमणकी इच्छा की। किंतु वह इच्छा हमलोगोंकी इच्छाकी भाँति नहीं होती। क्योंकि यहाँ भगवान् हमारी मनोवृत्तिके अनुसार काम कर रहे हैं। हमारी मनोवृत्तिमें और भगवान्की

मनोवृत्तिमें बड़ा अन्तर है। हमारे देखने, सुनने, सूँघनेमें और भगवान्‌के देखने, सुनने, सूँघनेमें बड़ा अन्तर है। हमारा देखना, सुनना, इच्छा करना, गमन करना यह भगवान्‌के देखने, सुनने, इच्छा करने, गमन करनेके समान नहीं है। बड़ी पृथक्ता है। हम आँख द्वारा किसी वस्तु विशेषको देखते हैं, कान द्वारा किसी शब्द विशेषको सुनते हैं, मनके द्वारा किसी अभीष्ट विषयकी इच्छा करते हैं और पैरोंके द्वारा किसी स्थान विशेषपर जाते हैं किन्तु भगवान् सर्वद्रष्टा हैं। वे सब कुछ देखते हैं। वे आँखके द्वारा किसी निर्दिष्ट वस्तु विशेषको नहीं देखते। वे सब सुनते हैं, वे कानके द्वारा किसी निर्दिष्ट शब्दको ही नहीं सुनते। वे इच्छामय हैं उनकी इच्छा किसी एक निर्दिष्ट—अभीष्ट विषयके लिये नहीं होती। उनको मनसे इच्छा ही नहीं करनी पड़ती यहाँ तो मनसे इच्छा करनी पड़ती है। वे सर्वगत हैं इसलिये पैरोंके द्वारा किसी स्थान विशेषमें गमन नहीं करते हैं। श्रीभगवान्‌के इस प्रकार चक्षु—कर्णादि इन्द्रियाधीनताविहीन और किसी निर्दिष्ट विषयके साथ सम्बन्धविहीन दर्शन श्रवणादि होनेके कारणसे वो इच्छा दूसरी। यहाँ उपनिषद् वचन द्वारा यह आता है कि

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१६)

परब्रह्म परमात्मा जिसके हाथ—पैर नहीं वह चलता भी है और ग्रहण भी करता है। इसकी आँखें नहीं पर वह सबकुछ देखता है। उसके कान नहीं, पर वह सब सुनता है। इससे स्पष्ट है कि सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् सर्वदा ही समस्त विषयोंका दर्शन श्रवण आदि करते हैं, करते ही हैं। पर हमारे आँखोंकी भँति किसी इन्द्रियके द्वारा किसी निर्दिष्ट विषयका श्रवण दर्शनादि नहीं करते हैं।

परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजी महाराज सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌की रासलीला कथाके वर्णन प्रसंगमें यदि 'भगवान् रिरंसासास किंवा रन्तुं एष' कह देते तो मन—सम्बन्ध शून्य और किसी विषय विशेषसे सम्बन्धशून्य सर्वतोमुखी इच्छाकी बात वहाँ होती। सर्वतोमुखीकी चीज यहाँ है नहीं, किन्तु वह गोपियोंके साथ जो रासक्रीडा करनेकी इच्छा की यह बात धारणामें नहीं आती। तो 'भगवान्पि रन्तुं मनश्चक्रे' स्पष्ट भाषामें कहनेसे यह बात मालूम हुआ कि उनकी इच्छा, इच्छाशक्तिके प्रभावसे सर्वदा सर्वविषयिनी इच्छा नहीं है। यह इच्छा भक्ताधीनतासे परिभावित

अन्तःकरणकी भक्त मनोहर पूर्तिकारिणी वृत्तिक पूर्ण विकास है।

भगवान् मनके वशमें नहीं हैं परन्तु भगवान् तो भक्तवंधा कल्पतरु हैं। तो भक्तका मनोस्थ पूर्ण करनेवाली भागवती वृत्ति है; मनकी वह वृत्ति नहीं। यहाँ कहनी है मनकी बात पर कहनी है साथमें भगवान्के मनकी बात भी। वे इस सम्बन्धके अनुसार क्रिया करते हैं प्रपञ्चकी भाँति। वे क्रिया करते हुए भी निष्प्रपञ्च ही हैं। इसलिये इस बातको खोल देते हैं कि यह क्या है ? यह अन्तःकरणकी वह चीज है जो भक्ताधीनतासे परिभाषित भक्त—मनोस्थको पूर्ण करनेवाली भागवती वृत्ति है उसका पूर्ण विकास यहाँपर है। यह नहीं कि किसी इच्छाके वशमें होकर भगवान् किसी वस्तुको पानेकी इच्छा करते हैं।

भगवान् अपनी इच्छा—शक्तिके प्रभावसे सर्वदा सर्वविषयक इच्छामय होते हुए भी भक्ताधीनताके गुणवश मनके द्वारा यहाँ अभीष्ट पूर्ण करनेकी इच्छा करनेमें प्रवृत्त हुये। 'रन्तुं मनश्चक्रे'। यहाँ साधारण भावसे दर्शन, श्रवण, गमन इच्छा इत्यादि जन्य चक्षु, कर्ण, पद, मन आदिके साथ इनका संग और किसी निर्दिष्ट विषयके संगके साथ भगवान्का संग कदापि न होनेपर भी भक्ताधीनताका गुण प्रकाश करके भक्तके मनोस्थको पूर्ण करनेके लिये भगवान्ने यह लीला की।

इसीलिये उन्होंने आँखोंके द्वारा देखा, उन्होंने कानोंके द्वारा सुना, उन्होंने पैरोंके द्वारा गमन किया, उन्होंने मनके द्वारा इच्छा की—यह भागवती इच्छा। ब्रजराजनन्दनकी स्तुति करते समय विवशतुष्टा ब्रह्माजीने भगवान्के लिये कहा था—

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विद्वन्ब्रह्मयसि भूतले ।

प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥

(श्रीमद्मा० १०। १४। ३७)

हे भगवन् ! आप प्रपञ्चसे अतीत होकर भी प्रपञ्चमें अवतीर्ण होकर प्रपञ्चका अनुकरण करके नाना प्रकारकी लीला करते हैं और उससे अपने चरणोंके नित्य शरणागत और आपकी विविध प्रकारकी सेवा करनेके लिये समुत्कण्ठित भक्तोंका आनन्दवर्धन होता है। गीतामें आया है—

अजोऽपि सन्नथ्यात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ (४। ६)

जन्मरहित होकर भी जन्म लेते हैं। सर्वनियन्ता सर्वकारणकारण होकर भी नन्दगोप वसुदेव, दशरथ इत्यादिको पिता बोलकर स्वीकार करते

हैं। सबके सामने यह स्वीकार करते हैं कि यह हमारे पिताजी हैं। जिन ऋषि—मुनियोंने, जिन महात्मा—महापुरुषोंने, परमहंसोंने भगवान्‌के तत्त्वको जानकर यह मान लिया कि यह पिता—पुत्र सम्बन्धविहीन हैं। ये वो तत्त्व हैं। ये उन ऋषि—मुनियोंके सामने भी यह कहते हैं कि हमारे पिताजी हैं और पिताजीको प्रणाम करते हैं। पिताजीकी आज्ञा मानते हैं और केवल यही नहीं ब्रजलीलामें तो ये बच्चोंकी भौंति चंचलता करते हैं, बड़े चापल्यका प्रकाश करते हैं। भूखे होकर रोने लगते हैं। रामजी ऐसे रोये नहीं थे। राज दरबारी थे वहाँ, मिलता भी बहुत था। भगवान् बालकोंके साथ गोष्ठ क्रीडा करते हैं और नवनीत लुब्ध होकर नवनीतका अपहरण करते हैं और यशोदा मैयाके पास इसी बातको लेकर डाँटे—फटकारे जाते हैं। उसके सहन करते हैं। यह सब लीलाएँ भागदत्तादिमें वर्णित हैं। यह भक्तोंके आनन्दवर्धनार्थ भगवान्‌का प्रपञ्चानुकरण है। यहाँ भगवन्ता कहीं गई नहीं है। उपनिषदादिमें जो भगवान्‌के लिये यह आया है कि—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाप्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥

(कठोपनिषद ३।१।१५)

अपाणिपादो ज्वनो ग्रहीता पश्यत्यधश्च स मृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुश्चयं फुल्लं महान्तम् ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद ३।१६)

यह उनके निर्विशेष रूपका संकेत है। पर निर्विशेषता, सविशेषता एक साथ रहती है इनमें। यह निर्विशेष रहते हुए भी सविशेष हैं और सविशेष रहते हुए भी निर्विशेष हैं। यह 'अशब्द' 'अस्पर्श' होते हुए भी यह सारा शब्द, स्पर्श इन्हींके द्वारा होता है। इसलिये इनके सम्बन्धमें कोई अमुक धारणा नहीं करनी चाहिये कि ऐसे हैं वैसे नहीं और वैसे ही हैं, ऐसे नहीं। यह बात नहीं। भगवान् यहाँपर भक्तोंका मनोस्थ पूर्ण करनेके लिये सब प्रकारसे भक्तोंके मनोनुकूल दिव्य मन—कामका निर्माण करके लीला करना स्वीकार करते हैं। यह उनका स्वभाव है। यह उनके भक्ताधीनताका विरुद्ध है, शंकाकी कोई बात नहीं।

भगवान् असीम होकर भी सीमाबद्ध जगत्‌में आते हैं निष्क्रिय होकर भी विविध लीला करते हैं। निर्विकार होकर भी भक्तकी रक्षाके लिये व्यग्र हो जाते हैं और अरूप होकर भी जगन्मोहन श्यामसुन्दर आदि रूपोंसे आविर्भूत

होकर सबके मनोको हर लेते हैं और वे अपने नित्य सिद्ध अचिन्त्य महाशक्तिके प्रभावसे ऐसी लीला करते हैं कि जिसको सुनकर, गाकर, देखकर बड़े-बड़े महात्मा, महापुरुष—जिनके मन ही नहीं रहा ऐसे लोग लीला—माधुर्य—सिन्धुमें डूब जानेको बाध्य होते हैं। यह लीला—माधुर्य है। श्रीभगवान्की महिमापर विचार करनेसे यह पता लगता है कि उनको मनके द्वारा इच्छा नहीं करनी पड़ती और वे किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु—विशेषके लिये इच्छा करें इसकी भी उन्हें आवश्यकता नहीं होती परन्तु रासलीलामें प्रवृत्त भगवान् मनके द्वारा प्रेमवती श्रीगोपांगनाओंके साथ रमण करनेकी इच्छा करते हैं।

परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजीने भक्तवांक्षा कल्पतरु भगवान्की भक्त पराधीनताका यहाँ संकेत किया है। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये। उनकी कोई इच्छा हो सो बात नहीं। श्रीभगवान्ने प्रेमवती श्रीगोपांगनाओंके साथ रमणकी इच्छा की। किन्तु उनकी इच्छा शक्तिसे यह स्वाभाविक काम नहीं हुआ है। यह इच्छा उन्होंने मनके द्वारा की। बिना मनके यँ ही ईश्वरसे जो अपने आप काम हो जाते हैं वो नहीं और यदि कोई कहे कि भई ! भगवान् तो अमना है अप्राणा है—श्रुतियाँ कहती हैं तो यह बात ठीक है परन्तु जो भगवान् अपनी शक्तिसे अज होकर भी जन्म ग्रहण कर सकते हैं वे भगवान् अपने उसी शक्तिसे अमना होकर मनके द्वारा इच्छा करें। इसमें उनको कौन रोकता है ?

जो भगवान् अज होकर जन्म ले सकते हैं, अजन्माका जन्म होता है तो अमनाका मन भी हो सकता है। यह अमनाके मनके द्वारा रमणकी इच्छा है। इसलिये यह जानना चाहिये कि यह हमारावाला गन्दा मन वहाँ नहीं था। वहाँ अमनाका मन था। भगवान्की रमण इच्छा—यह केवल प्रेमवती गोपियोंकी मनकी पूर्ण करनेके लिये नहीं थी। इसमें उनकी अपनी भी आकांक्षा थी। यदि प्रेमवती गोपरमणियोंके साथ भगवान्की रमण करनेकी कोई इच्छा न होती, प्रयोजन न होता, यदि रमणेच्छा केवल अभिनय मात्र ही होती तो परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजी 'रन्तुं मनश्चक्रे' न कहकर—'रन्तुं मनश्चकार' कहते। यह व्याकरणका नियम है कि कर्ता यदि क्रियाका फलभागी है तो वहाँ आत्मने पदका प्रयोग होता है और कर्ता यदि फलभागी नहीं है तो आत्मने पदके परिवर्तनमें परस्मै पदका प्रयोग होता है जैसे कोई पुरोहितजी महाराज यजमानके लिये पूजादि करते हैं और पुरोहित उसके फलभागी नहीं तो वह संकल्पकी क्रियामें परस्मै पदका प्रयोग करते हैं। यदि यजमान स्वयं पूजा करते हों तो संकल्प वाक्यमें आत्मने पदका प्रयोग करेंगे।

भगवान्की रास क्रीडारूप इस महायज्ञमें भगवान् केवल पुरोहितकी भाँति फलाकांक्षा शून्य होकर कर्म करनेवाले नहीं हैं। क्योंकि उस महायज्ञमें यजमानकी भाँति फलमागी होनेका संकल्प करते हैं। इसीलिये परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजीने 'रन्तु मनश्चक्रे' कहकर रासयज्ञकी इस संकल्प वाक्यमें आत्मने पदका प्रयोग करवाया है। परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजी महाराजने 'भगवान् रन्तु मनश्चक्रे' न कहकर 'भगवानपि रन्तु मनश्चक्रे' क्यों कहा ? अपि क्यों लगाया ? इसलिये कि इसमें भगवान्की रमणेच्छा व्यक्त हुई परन्तु अपि शब्दसे जाना जाता है कि भगवान्ने रमणकी इच्छा की और भगवान्के साथ-साथ गोपियोंने भी की। गोपियोंने न की होती तो अपिकी जरूरत नहीं थी और भगवान्में इच्छा नहीं होती तो भी अपिकी जरूरत नहीं थी।

इससे मालूम होता है कि गोपरमणियोंके साथ भगवान्की रमण करनेकी इच्छा थी और गोपरमणियोंकी भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा थी। इन गोपरमणियोंमें गोपकुमारियाँ भी थीं जिन्होंने एक वर्ष पूर्व कात्यायिनी व्रतके समयसे भगवान्से मिलनकी इच्छा की। कात्यायिनी व्रतके शेष दिन जब पूजाका समापन हो गया तब भगवान्ने उनके प्रति—प्रतिश्रुति की कि आगामी पूर्णिमाको तुमलोगोंकी मनोकामना पूर्ण होगी। तो एकवर्षमें जितनी पूर्णिमा आती तबतक वे गोपकुमारियाँ समझतीं कि आज मिलन होगा, आज मनोवासना पूर्ण होगी। तो उनके हृदयमें आनन्द भर जाता और वह पूर्णिमाका चन्द्र जब अस्तगमन करते अस्ताचलकी ओर जाता तो बेचारी फिर निराशा—सागरमें डूब जातीं। साथ ही राधिकादि तथा अन्यान्य गोप—वधुएँ हैं इनका भी एक साल पूर्व शरदकालीन वन—विहारके समय जब मोहनकी मुरली बजी थी उस समय श्रीकृष्णके साथ मिलना हुआ और तभीसे पुनर्मिलनका सुयोग नहीं हुआ। इस प्रकारसे वहाँ केवल पूर्वराममात्र था।

यह अन्वेषण कर रही थीं पर अबतक यह मिलन नहीं हुआ पर आज इतने दिनोंके बाद गोपियोंकी मनोकामना पूर्ण करनेका सुयोग आ गया। उनके अश्रुपात और मिलनाकांक्षाकी वेदनासे संतप्त श्वासने आत्मकाम, पूर्णकाम निर्विकार निरीह सच्चिदानन्दघनविग्रह भगवान्के हृदयको विगलित कर दिया। परमानुरागिणी और मिलनाकांक्षिणी श्रीगोपरमणियोंके भावोंके अनुरूप भावोंसे भावित होकर आज भगवान्ने उन गोपरमणियोंके साथ मिलन—इच्छा की। इसके कारण हैं वो निर्जन अश्रुपात और मिलनाकांक्षाकी

वेदनासे संतप्त उष्ण श्वास। इसीने पूर्णकाम भगवान्में इच्छा उत्पन्न की।

भगवान् शब्दकी व्याख्याके प्रसंगमें ऐश्वर्य वीर्यादि षड्विध महाशक्तिपर बातचीत जब की उस समय यह बात कही जा चुकी है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद २।१।२) और 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तिरीयोपनिषद २।६।१) तथा 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेताश्वतरोपनिषद ६।११) इत्यादि सैकड़ों श्रुतिवाक्योंसे जो भगवान्का परिचय मिलता है वहाँपर भगवान्की इस प्रकारकी किसी रमण इच्छाकी सिद्धि नहीं हो सकती परन्तु रासारम्भमें भगवान्की रमणेच्छा, शरत्पूर्णिमाकी रजनीकी शोभा देखकरके उनका भावोद्दीपन और वंशीनादके द्वारा गोपरमणियोंका अपने निकट आनयन, इससे मालूम होता है कि गोपरमणियोंके प्रेममें भी कोई विशेषता है जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इस प्रकारके ब्रह्मके हृदयका निर्माण करके इसमें इच्छा पैदा कर दी। यह गोपरमणियोंकी कोई विशेषता है।

गोपरमणियोंके प्रेमका इतना महान् आकर्षण कि आत्माराम शिरोमणि—आत्मारामोंको आत्मरमण प्रदान करनेवाले, आत्मेच्छुओंको आत्माका दान देनेवाले, ब्रह्मदर्शनकारी लोगोंको ब्रह्ममें प्रतिष्ठित करानेवाले, ब्रह्म स्वरूपभूत और ब्रह्मके भी आधार भगवान्में स्वाभाविक दिव्य भाव—विकारका उन्मेष हुआ। निरीह भगवान्ने वीक्ष्य भगवान्ने मिलनकी इच्छा और चेष्टा की। यहाँ पूर्णकाम भगवान् सकाम हो गये। यह विशेषता है भक्तोंके प्रेमकी, त्यागमय दिव्य प्रेमकी। इसमें नयी बात नहीं। यह भगवान्के गुण ऐसे हैं और इन गुणोंकी तरफ जिनका आकर्षण हो जाता है वे महामुनि भी भगवान्से प्रेम करते हैं। इन महामुनियोंके प्रेमको पराकाष्ठापर पहुँचानेके लिये आत्मारामोंको आत्मारामता देनेवाले भगवान् भी इस प्रकारसे लीला करने लगते हैं।

आत्मस्वरूपानन्दास्यादनमें निमग्न आत्माराम मुनिगण समस्त विधि—निषेधोंसे अतीत होकरके भी अहैतुकी भक्ति करनेको बाध्य होते हैं, भगवान्के चरण—भजनका। उनमें किसी प्रकारका प्रयोजन न होनेपर भी वे भजन क्यों करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर वहीं पर दिया कि 'इत्थं भूतगुणो हरिः' (श्रीमद्भा० १।७।१०) वे आत्माराम हैं उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है, उन्हें किसी बातकी इच्छा नहीं है तब फिर उन्होंने क्यों भगवान्की भक्ति की? क्यों भजन किया? इसलिये किया कि भगवान्में ऐसे गुण हैं जो आत्माराम मुनियोंको भी खींच लेते हैं; पर यहाँपर तो आत्मारामोंके भी मनोहारी—मनको

हरण करनेवाले हरि हैं। यहाँ कौन-सी ऐसी बात हो गयी कि जो उन्होंने ऐसी इच्छा की, भजन किया। भगवान् तो नित्य तृप्त हैं आप्तकाम हैं निर्विकार हैं, निरीह हैं, सच्चिदानन्दधन विग्रह हैं उन्होंने गोपरमणियोंके साथ रमण की इच्छा की इसके कारणका अनुसंधान करनेपर भगवान्का स्वरूप—श्रुति प्रतिपादित भगवान्का रूप, भगवान्का ऐश्वर्य सभी सिद्ध होता है कि ऐसा नहीं होना चाहिये इनमें यह कैसे हो गया ? सीधी बात यह है कि जैसे 'इत्थं भूतगुणो हरिः' भगवान्के गुण आत्माराम मुनियोंको खींच लेते हैं इसी प्रकार इत्थं भूत प्रियमानो हि व्रजदेव्याः—यह व्रजदेवियोंका प्रेम है कि जिस प्रेम्ने भगवान्को बाध्य कर दिया इच्छा करनेके लिये।

व्रजरमणियोंके प्रेमकी ऐसी विशेषता, ऐसे गुण जिससे अनिर्वचनीय भगवान् सर्वातीत भगवान्, उनको आकृष्ट कर उनमें प्रवृत्त हो गये। भगवान्का एक नाम है 'आत्मारामगणाकर्षी'—आत्माराम मुनियोंके मनको भी खींच लेनेवाले। श्रीकृष्णका एक नाम है—आत्मारामगणाकर्षी—यह भगवान् व्रजरमणियोंके सर्वातिशायी प्रेमके किसी अनिर्वचनीय गुणसे आकृष्ट होकर उनके साथ रमणमें प्रवृत्त होते हैं और साफ आता है वहाँपर कि उनकी आत्मारामतामें कोई कसर नहीं। यहींपर आवेगा कि 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' (श्रीमद्भा० १०। २६। ४२) भगवान् आत्माराम होकरके भी प्रेमवती गोपियोंके साथ रमण करते हैं। भगवान्की आत्मारामताका—आत्मारामतादिगुणोंका अनुसंधान करनेपर जो लोग भगवान्की इस रमणलीलाका तत्त्व नहीं समझ सकते वे कहते हैं कि यह मिथ्या है, यह मायिक है, यह कल्पना है, यह अभिनय है, यह नाट्य है, यह आध्यात्मिकता है।

वे लोग जो आगे बढ़ते हैं वे इस परम दिव्य रसमयी रासलीलाको आध्यात्मिकताकी गर्तमें डाल देते हैं, आध्यात्मिकताके गड्ढेमें फेंक देते हैं। वे भगवान्की परम अनुग्रह दानका रहस्य ग्रहण नहीं कर पाते अथवा प्रेमके अचिन्त्य प्रभावके सम्बन्धमें उनकी धारणा नहीं होती। जो लोग सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वातीत, सर्वगुणरहित, निर्विशेष, निरीह श्रीभगवान्के मत्तवत्सलता और प्रेमाधीनता गुणोंका अनुसंधान कर सकते हैं उनकी इस प्रेमाधीनता गुणमें जिन लोगोंका विश्वास है और जो इस प्रेमके अचिन्त्य वैभवके सम्बन्धमें विश्वास रखते हैं वे ही लोग भगवान्की इस परम मधुरलीलावलीका तत्त्व समझ सकते हैं। यहाँ पर भगवान्के समस्त लीला प्रसंगमें क्या वितरण हुआ है ? यहाँ अयाचित करुणा और दिव्य रसका

वितरण हुआ है। जो ऐसे लोग विश्वासी हैं वही इस रसको ग्रहण करके कृतार्थ हो सकते हैं। भगवान्की भक्ताधीनता यहाँ तो प्रत्यक्ष प्रकट है और भगवान्ने जहाँ बहुत प्रेमका प्रसंग नहीं भक्तस्वाका प्रसंग है वहाँ अपने मुँहसे अपनी पराधीनता स्वीकार की है।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः।

साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ (श्रीमद्भाग० ६।४।६३)

जब विष्णुचक्रके द्वारा संचालित होकर दुर्वासा ऋषि भागे तीनों लोकोंमें तब विष्णुलोकमें गये। भगवान् विष्णुके चरणोंमें प्रणत होकर बोले—त्राहि—त्राहि, बचाओ नाथ मुझे, मरा ! आपके चक्रने मुझे मारा। भगवान्ने दूरसे पुकारकर कहा द्विजराज ब्राह्मण ! सर्वेश्वर तो हूँ मैं, यह ठीक पर भक्त पराधीन हूँ। मेरे चरणोंकी सेवा करनेवाले निष्काम भक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया है। मैं सब भूतोंमें सम होनेपर भी यह भक्त मुझे अत्यन्त-प्रिय हैं। भक्तैर्भक्तजनप्रियः (श्रीमद्भाग० ६।४।६३)। श्रीभगवान्के सर्वेश्वर होनेपर भी उनकी भक्ताधीनता प्रसिद्ध है। भगवान्का एक नाम आता है भक्तभक्तिमान्—यह उपनिषद्में है।

कहते हैं भक्तवांक्षाकल्पतरु, भक्ताधीन और भक्तभक्तिमान् भगवान्ने भक्तकी मनोरथकी पूर्तिके लिये ही इस प्रकारकी लीला की। इसीलिये सर्वातिशायी—प्रेमवती ब्रजरमणियोंके प्रेमाधीन होकर उनके मनोरथकी पूर्तिके लिये आत्मारामगणाकर्षी श्रीभगवान्में रमणेच्छाका उदय होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं और न कोई शंका—संदेह या पापकी बात है।

अनन्त लीलामय श्रीभगवान्की अपार कृपासे इस श्लोकके कुछ मांकोंका हमलोगोंने आनन्द लिया। सार बात यही है कि ऐश्वर्य वीर्यादि षडविध महाशक्ति निकेतन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाका पूर्ण विकास करके अपनी ह्लादिनी शक्तिकी घनीमूल मूर्तियों परम प्रेमवती ब्रजरमणियोंके साथ रासक्रीडा करनेकी इच्छा की—यह श्लोकका तात्पर्य है।

सर्वेश्वर निकेतन और सर्वदा पूर्णकाम होनेपर भी उनका स्वभाव सिद्ध भक्तवात्सल्य प्रेमाधीनता यह ऐसी है कि भगवान् सदा ही प्रेमी भक्तोंका प्रेम संकल्प पूर्ण करनेके लिये व्यग्र रहते हैं। इनकी व्यग्रता, इनकी भक्ताधीनताका प्रमाण है और यह एक दिन नहीं है यह भगवान् ऐसे हैं कि मानो बैठे हैं। जिस समय तमाम तात्त्विकोंसे साथ दरबारमें वहाँ यदि किसी भक्तका रोना इन्हें

सुन जाय तो सारे तात्त्विकोंके साथ छोड़कर ये भाग—दौड़ते हैं। यह इनका स्वभाव है, भक्ताधीनता स्वभाव है। इसलिये परमप्रेमवती श्रीब्रजरमणियोंके साथ रमण करनेकी इच्छामें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध इनके लिये बाधक हो—यह कुछ नहीं। परन्तु तब इन्होंने इतने दिनों तक इच्छा पूरी क्यों नहीं की ? यह प्रश्न आता है न ! जब कोई प्रतिबन्धक नहीं था इनमें तब फिर इसमें देर क्यों की ? तो श्रीमद्भागवतमें इस प्रकारका वर्णन है कि इस प्रकारका अवसर जब आया, काल आया तब इच्छा की।

‘शरदोत्फुल्ल मल्लिकाः ता रात्रीः वीक्ष्य भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे’ शरदकालीन प्रफुल्ल मल्लिकादिकी शोभासे परिशोभित रात्रिको देखकर भगवान्ने रमणकी इच्छा की। इसमें यह कहा गया कि भगवान् स्वजन प्रेम—विवर्धन—चतुर हैं अर्थात् अपने जनोंके प्रेमको बढ़ानेमें चतुर हैं। यह जानते हैं कि प्रेम कैसे बढ़ता है; और बढ़े हुए प्रेममें विशेष आनन्द आता है; जैसे जरा—सी भूखमें कोई खा ले तो भूख ज्यादा थी नहीं क्या आनन्द आया लेकिन जब बड़े जोरकी भूख लग जाय, कई दिन खानेको हो जाय तब यदि खानेको मिले तो बड़ा रसास्वादन होता है। इसीलिये भक्त मनोरथकी पूर्तिके लिये सर्वदा ये व्यग्र और सचेष्ट रहनेपर भी अपने चरणाश्रित भक्तोंकी सेवाकांक्षा बढ़ानेके लिये धीरज रखते हैं। इसलिये कि इनके स्वभावमें भक्त—प्रेम—विवर्धनकी इच्छा रहती है, नहीं तो धीरज नहीं रखते। दक्ष है इस काममें। इसलिये भगवान् उनकी सेवाकांक्षाकी वृद्धिके लिये अपनी व्यग्रताको ढक करके धीरजके द्वारा निश्चेष्ट रह जाते हैं। लोगोंको उस समय दीखता है कि ये बड़े निष्चुर हैं। ये प्रेमियोंकी इच्छा पूर्ण करते ही नहीं। यह चुपचाप बैठे रहते हैं। इनको क्या पता कि प्रेमियोंके मनमें क्या बीत रही है ? ये तो निष्चुर—से बैठे हैं। लेकिन उनके मनमें क्या बीतती है इसको वे ही जानते हैं। वे तो धैर्यके द्वारा अपने इस मनोरथको, अपनी इस व्यग्रताको किसी प्रकारसे ढके रहते हैं। क्यों ढके रहते हैं ? कि इससे भक्तोंकी व्याकुलता और बढ़े तथा वे भक्त सेवाकांक्षाके लिये सर्वथा अधीर हो जायें, और पुकार उठें।

जब भक्तोंकी सेवाकांक्षा एकदम चरम सीमापर पहुँच जाती है तब भगवान् उनका मनोरथ पूर्ण करते हैं तो उस समय उनसे अपना धीरज रखा नहीं जाता। पर एक बार तो भक्तोंको ये बहुत कष्ट देते हैं।

नारदजीमें यही बात हुई—पूर्वजन्मकी बात उन्होंने कही तो ये बताया सनक, सनन्दनादिने कि उन्हें पाँच ही वर्षकी अवस्थाके समय मन्त्र

दे दिया था और वे भगवान्‌का चिन्तन करने लगे थे। एक बार उन्हें दर्शन दिया और उनके मनमें कामना बढ़ा दी। फिर छिप गये। तो बेचारा नारद दुर्दशाग्रस्त होकर मर गया पर उसको दर्शन नहीं दिये। नारदकी क्या दशा हुई कि वह अनिद्य सुन्दर मधुर मनोहर मूर्तिको देखकर प्रेमानन्दमें नारदने अपने आपको खो दिया और कहा, महाराज ! वह रूप दिखाओ, फिर दिखाओ पर वे अन्तर्धान हुए और इतने महान् विशाल विरह-सागरमें नारदको डुबो दिया कि बेचारा नारद उन्मत्तकी भाँति आर्तनाद करता हुआ वन-वनमें घूमता फिरा। नारदकी आर्त विकलताको देखकर मिले नहीं तब फिर आदेश दिया कि—

मेरे दर्शनके लिये तुम्हारी उत्कण्ठा और बढ़े इसलिये एक बार तुमको दर्शन दिये। जिनको मुझे देखनेकी उत्कण्ठा हो गयी उनकी क्रमशः सारी कामना, वासना दूर हो जाती है। भगवान्‌का यह स्वभाव है कि वे प्रेमी भक्तोंकी सेवा ग्रहण करनेके लिये रहते हैं बड़े उत्कण्ठित, बड़ी इच्छा रहती है पर भक्तोंकी सेवाकांक्षा बढ़ानेके लिये धैर्य धारण करके स्वयं निर्लिप्तकी तरह रहते हैं मानो उनको कोई लेप है ही नहीं। उनकी कोई इच्छा है ही नहीं। इस प्रकार रहते हैं और उसके बाद जब प्रेमवान् भक्तोंकी तीव्र सेवाकांक्षा अगम्यरूपसे प्रकट हो जाती है तब उनके प्रेरणासे भगवान्‌का धैर्य विगलित हो जाता है। वह धीरज जो है—भगवान्‌का धीरज—पत्थर वह गल करके बहने लगता है; फिर वे क्षणकाल भी विलम्ब नहीं कर सकते और उसी क्षण प्रेमी भक्तोंके साथ मिलकर उनकी प्रेमानुरूप सेवा ग्रहण करके उनको कृतार्थ करते हैं।

भगवान्‌के इस रासलीला प्रसंगमें ठीक यही बात हुई। श्रीवृन्दावनमें ब्रजवधुओंके बाल्यभावका अपगम होनेके साथ ही आजन्मसिद्ध कृष्ण प्रीति मधुर भाव, मिलनाकांक्षाके रूपमें परिणित हो गयी और वे कुल-शीलादिका बन्धन छिन्न करके कृष्णके साथ मिलनेके लिये समुत्कण्ठित हो गयीं। श्रीकृष्ण उनके भावोंको देखकर उनके मनोगत भावोंको जान भी गये लेकिन असीम धैर्यके आवरणमें अपनी मिलनाकांक्षाको उन्होंने ढक लिया, गोपन कर लिया और इनके अतिरिक्त ब्रजमें जो समस्त अल्पवयस्का गोप कुमारियाँ रहीं जिन्होंने श्रीकृष्णको पति रूपमें प्राप्त करनेकी उत्कण्ठासे कात्यायिनीका व्रत किया था और जिनकी सगाई हो चुकी थी उस ब्रह्ममोहन लीलामें; वे सब-की-सब श्रीगोपकुमारियाँ वहीं आ गयीं। वे सब उत्कण्ठित पर भगवान्‌ने

धैर्य इसलिये रखा—कि उन सबके प्रेमका वेग और बढ़े। उस प्रेमके वेगमें कहीं कोई कल्पना भी संसारकी रही हो तो वह कल्पना भी नाश हो जाय। भगवान्के अतिरिक्त इनके मनमें संसारकी किसी वस्तुकी कल्पनाका लेश-गन्ध न रह जाय। इसलिये भगवान्ने धैर्य धारण करके विलम्ब किया।

शरदपूर्णिमाकी रजनी जब आयी और वृन्दावनकी शोभा देखी भगवान्ने तो नित्यलीलामय श्रीभगवान्का रूप गोपियोंके साथ मिलनेका उद्दीपन रूपमें परिमित हो गया। शरदपूर्णिमाकी रजनीको देखकर ब्रजेन्द्रनन्दनको उस कात्यायिनीव्रत अनुष्ठानके परायण ब्रजकुमारियोंकी बात याद आ गयी। और 'वे अगामी पूर्णिमाको उनका मनोरथ पूर्ण करेंगे'—यह अपनी प्रतिश्रुति भी याद आ गयी। यह वचन दिया था। उसके साथ-साथ वृन्दावनकी सारी वनभूमिमें दिव्य प्रसून कुसुमादि खिल गये। वृन्दावनको इन्होंने परिशोभित कर दिया और सारा वन ऐसी मनोहर मूर्तिमें खिल उठा कि उसको देखकर सर्वमन मनोहर ब्रजराजनन्दनका मन भी प्रेमवती गोपरमणियोंसे मिलनेको व्याकुल हो उठा।

भगवानपि ता रात्री: -----इस श्लोकका 'शरदोत्फुल्ल मल्लिका: ता रात्री: वीक्ष्य' इस अंशपर विचार करनेसे यह मालूम होता है कि गोपियोंके साथ नित्य मिलन और अनाद्यन्त मिलनेच्छाका यह भाव नवोद्दीपनका संकेत मात्र है। जिस रात्रिके दर्शनसे भगवान्के अन्दर नित्य मिलनकी नवीन उद्दीपना जाग्रत हुई उस अभिनव रात्रिके साथ जागतिक रात्रि जो चार प्रहरवाली होती है इसमें बड़ा भेद। इसीलिये 'ता रात्री:' इस बहुवचनसे इस बातको स्पष्ट कर दिया है; क्योंकि भगवान्ने रात्रिको देखकर गोपरमणियोंके साथ मिलनेकी आकांक्षा की, रासक्रीडा की। उस रात्रिको भागवतमें 'ब्रह्मरात्रि' कहा गया है।

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।

अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३-३६)

अब रासक्रीडासे लौटनेके वक्तकी बात है। भगवान् द्वारा रासक्रीडा करते करते ब्रह्म रात्रिका अवसान हो गया तो भगवान्के आदेशसे श्रीप्रेमवती गोपागनाएँ अनिच्छापूर्वक अपने-अपने घरोंको लौट गयीं। इससे मालूम होता है कि जिस रात्रिमें भगवान्ने रासक्रीडाकी वह रात्रि मृत्युलोककी चार प्रहरवाली रात्रि नहीं। वह रात्रि सहस्र चतुर्युगवाली ब्रह्मरात्रि है। यहाँ

रात्रियोंके भेद बताते हैं। कहते हैं उस रात्रिको देखकर श्रीकृष्णने मिलनकी इच्छा की और उस रात्रिमें लीलाशक्तिके प्रभावसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी अनन्त रात्रियाँ संयुजित हो गयीं।

(इन सब प्रवचनोंके कैसेट हमारे पास बिक्रीके लिये उपलब्ध हैं)



प्रेम—बन्धन

नहीं चुका सकता मैं बदला, कर सकता न कभी ऋण—शेष।
 बँधा प्रेम—बन्धन, मैं करता स्वतन्त्रताका कभी न बोध।।
 सहज स्वतन्त्ररूप मैं रहता स्वयं—रचित सुखमय परतन्त्र।
 नहीं छूटना कभी चाहता, नहीं चाहता बनूँ स्वतन्त्र।।
 मधुर प्रेम—परवशता मेरी प्रभुतापर प्रमुह्व करती।
 रस—स्वरूप मुझमें यह पल—पल मधुर नित्य नव रस मस्ती।।
 भूल सभी सत्ता—भगवत्ता मैं रस—सागर बन जाता।
 नयी—नयी रस—सरिताओंसे भर, मैं रससे सन जाता।।
 यह मेरा रस—लुब्ध, नित्य रस—मत्त, सदा रस—पूर्ण स्वरूप।
 ब्रह्म सच्चिदानन्द पूर्णसे नित्य विलक्षण, परम अनूप।।
 अतः सिद्ध—मुनि, परमहंस—योगी—विज्ञानी—आत्माराम।
 इसे जाननेके प्रयत्नमें रहते लगे सदा अविराम।।
 किंतु न पाते इस सागरकी गहराईका थाह कभी।
 हार मान, ऊपर आ जाते परम सिद्ध वे लोग सभी।।
 निर्मल प्रेम—बन्धसे जो मेरा रसरूप बाँध पाते।
 वही विलक्षण इस स्वरूपको रसिक सुजान देख पाते।।
 वे फिर इसमें अवगाहन कर करते मधुमय रसका पान।
 वे ही फिर मुझको देते मेरा अभिलषित मधुर रस—दान।।

(पद—रत्नाकर, पद सं० ५३८)

रासलीला—रहस्य

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

(श्रीमद्भागवत १०। २६। १)

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें २६ से ३३ अध्यायतक भगवान्की रासलीलाका प्रसंग है। इसीको रासपञ्चाध्यायी कहते हैं। इस रासपञ्चाध्यायीमें श्रीमद्भागवतवर्णित तत्त्वोंके सारभूत परम तत्त्वका परमोज्ज्वल प्रकाश है। यह वस्तुतः श्रीमद्भागवतके पञ्चप्राण-स्वरूप है। भगवान्की दिव्य लीलाका भाव न समझकर केवल बाह्यदृष्टिसे देखनेपर यह सारी कथा शृंगार-रसपूर्ण दिखायी दे सकती है। और इससे मनुष्य भ्रमग्रस्त हो सकता है। इसीसे सम्भवतः श्रीशुकदेवजीने उपर्युक्त प्रथम श्लोकमें प्रथम शब्द 'भगवान्' दिया है, जिससे पढ़नेवाला व्यक्ति इसे भगवान्की लीला समझकर ही पढ़े। वस्तुतः यह लौकिक काम-प्रसंग कदापि नहीं है। इसके श्रोता हैं—विवेक-वैराग्यसम्पन्न, मुमुक्षु, धर्मज्ञानपूर्ण मरणकी प्रतीक्षा करनेवाले महाराज परीक्षित और दत्ता हैं—ब्रह्मविद्वरिष्ठ परम योगी जीवन्मुक्त सर्वश्रेष्ठिमुनिमान्य श्रीशुकदेवजी। ऐसे दत्ता-श्रोता लौकिक शृंगारकी बातें कहे सुनें, यह सोचना ही भूल है। वस्तुतः इन पाँच अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी परम दिव्य अन्तरंग लीलाका, निजस्वरूपभूता महामादरूपा ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी तथा उन्हींकी कायव्यूहरूपा दिव्य कृष्णप्रेममयी गोपांगनाओंके साथ होनेवाली भगवान्की रसमयी लीलाका वर्णन है। 'रास' शब्दका मूल 'रस' है और 'रस' स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—'रसो वै सः'। जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे, एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद, आस्वादक, लीला-धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे—उसका नाम 'रास' है। अतएव यह रासलीला भी लीलामय भगवान्का ही स्वरूप है। भगवान्की यह दिव्य लीला, भगवान्के दिव्य धाममें दिव्य रूपसे निरन्तर हुआ करती है। भगवान्की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी यह अघने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन

करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें। इस पञ्चाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, दिव्य रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रसनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है—जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड़ नहीं होता। जड़की सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्की दृष्टिमें नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेदभाव केवल प्रकृतिके राज्यमें होता है। अप्राकृत लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मयी है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित्की प्रतीति तो केवल त्रिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। इसलिये स्थूलतामें—या यों कहिये कि जड़राज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है, तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जड़राज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्यलीलाके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड़ जगत्की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थ स्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान्के समान ही गोपियों भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड़ शरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म शरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष—और तो क्या, जड़ताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण है, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमाभूत है। उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूल शरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अंग-संगकी कल्पना किसी भी प्रकार

नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शंकर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है। उन गोपियोंके दिव्य भावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान्‌ अन्याय एवं अपराध है। इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है। इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्‌की भगवान्‌की स्वरूपभूता अन्तरंग-शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है। आदरण-भंगके अनन्तर अर्थात्‌ चीरहरण करके जब भगवान्‌ स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे। जबतक 'कारण शरीर' रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं। इस 'कारण शरीर' के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है। इसी कर्मबन्धनके कारण पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्थि, मेद, मज्जा आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है। प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं; फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके संकल्पसे। बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे ही, अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कमी-कमी स्त्री या पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं—योनि और बिन्दुके संयोगजनित

ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित निर्माणकाय यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परंतु वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे ? वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीला-पुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अंग पूर्ण श्रीकृष्ण है, श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथोंसे देख सकते हैं। आँखोंसे चल सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यबद्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है। फिर उसके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिण और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायें, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा मैथुनकर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है, उससे क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुक्र बनता है; इसी शुक्रके आधारपर शरीर रहता है और मैथुनक्रियामें इसी शुक्रका क्षरण हुआ करता है। भगवान्का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टिका है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं; अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उसमें प्राकृत पाञ्चभौतिक शरीरवाले स्त्री-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्को उपनिषद्में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसीसे भागवतमें उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं। फिर कोई शंका करे कि उनके सोलह हजार एक सौ अठ सानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, भगवान्के संकल्पसे हुई थी। भगवान्के शरीरमें जो

रक्त—मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान्की योगमायाका चमत्कार है। इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ, वह सर्वथा दिव्य भगवत्—राज्यकी लीला है, लौकिक काम—क्रीडा नहीं।

* * * *

उन गोपियोंकी साधना पूर्ण हो चुकी है। भगवान्ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेमसंकल्प कर लिया है। इसीके साथ उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टिमें विवाहिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य—लीलामें सम्मिलित करना है। वे अगली रात्रियाँ कौन—सी हैं, यह बात भगवान्की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें 'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।'—भगवान्के इस ईक्षणसे जगत्की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्के प्रेम—वीक्षणसे शरतकालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका—पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेम—दान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी—दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्की बाँसुरी बजती है।

भगवान्की बाँसुरी जड़को चेतन, चेतनको जड़, चलको अचल, अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है। भगवान्का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा—शुश्रुषा—'धर्म'के काममें लगी हुई थी, कोई गो—दोहन आदि 'अर्थ'के काममें लगी हुई थी, कोई साज—शृंगार आदि 'काम'के साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा—पाठ आदि 'मोक्ष' साधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने—अपने काममें, परंतु वास्तवमें उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं उस विषयासक्तिशून्य संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे

परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियों ब्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है ?

साधनाके दो भेद हैं—१-मर्यादापूर्ण वैध साधना और २-मर्यादारहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र नियम हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका, कर्तव्योंका और विविध पालनीय धर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट करनेवाला और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका पालन कलंकरूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके साधनोंको वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच जानेपर स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहींतक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्की ओर दौड़ने नहीं लग जातीं।

श्रीगोपीजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं। उनकी सारी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न रहती थीं। इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लंघनकर एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको ही पानेके लिये अमिसार किया था। उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्व-धर्मका त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है।

इस 'स्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्मका आचरण गोपियों—जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है; क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग वही कर सकते हैं, जो उसका यथाविधि पूरा पालन कर चुकनेके बाद इसके परम फल अनन्य और अचिन्त्य देवदुर्लभ भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुकते हैं। वे भी जान-बूझकर त्याग नहीं करते। सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति स्वतः ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं। यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है। भगवत्-प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है। देवर्षि नारदजीका एक सूत्र है—

‘वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविधिज्ञानुरागं लभते।’

जो वेदोंका (वेदमूलक समस्त धर्ममर्यादाओंका) भी मलीमूर्ति त्याग कर देता है, वह अखण्ड भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलाये, वह भला, किसी दूसरे धर्मकी ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है।

रोकनेवालोंने रोका भी, परंतु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है? वे न रुकी, नहीं रोकी जा सकीं। जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अविशिष्ट थे; वे अपने अनधिकारके कारण शरीरसे जानेमें समर्थ न हुईं। उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्के वियोग-दुःखसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्के प्रेमालिंगनसे उनके समस्त पुण्योंका परम फल प्राप्त हो गया और वे भगवान्के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्के पास पहुँच गयीं। भगवान्में मिल गयीं। यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभका भोग होता है। शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नाश हो जाते हैं, तब जीवकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे रहित श्रीभगवान्की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं, तथापि लीलाके लिये दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे उनके विरहानलसे उनको इतना महान् संताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पाप नष्ट हो गये और प्रियतम भगवान्के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया। इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी। चाहे किसी भी भावसे हो—कामसे, क्रोधसे, लोभसे—जो भगवान्के मंगलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है, उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है। यह भगवान्के श्रीविग्रहकी विशेषता है। भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका सहज दान है।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल दिम्बके विधाता ब्रह्मा, शिव, आदिके भी वन्दनीय निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परंतु

उन्होंने ऐसी भावभंगी प्रकट की, ऐसा स्वींग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात—प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—गोपियों ! ब्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है ? घरवाले दूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातनधर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो। परन्तु प्रेममें शारीरिक संनिधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सानिध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ, तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारी जातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानती, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको मलीभोगिनी जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं—इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करने योग्य है। सचमुच जिनके हृदयमें भगवान्के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं, वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं, जो शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके

नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकोंको स्वामि-सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है—क्यों न पूर्ण हो ? भगवान्ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—‘रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीभिर्यथाभक्तः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः’। जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे ही रमेश भगवान् और ब्रजसुन्दरियोंने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्बस्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की। पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिक-शेखर रस-परब्रह्म अखिलरसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीडाका नाम ही रास है। इसमें न कोई जड शरीर था, न प्राकृत अंग-संग था और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान्का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद ही भगवान्की लीलामें बाधक हैं। भगवान्की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका संचार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान्के पास रहनेपर भी, उनका दर्शन नहीं कर सकते। परंतु गोपियों गोपियाँ थी, उनसे जगत्के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी श्रावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदयसे, हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे

ही वह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद' को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियों ! मैं तुम्हारे प्रेमभावका नित्य ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उन्नत नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीडा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायब्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानों पर उपस्थित होकर अनेक यज्ञोंमें एक साथ आहुति स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीडा करें तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ? जो लोग भगवान्को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वे ही अनेक प्रकारकी शंका-कुशंकाएँ करते हैं। भगवान्की निजलीलामें इन तर्कोंके लिये कोई स्थान नहीं है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको मुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षितके प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञानसे भले ही श्रीकृष्णको पराया समझे, वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीलाविलास है, सभी स्वरूपभूता आत्मस्वरूपा अन्तरंगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा है।

ऐसी स्थितिमें 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अंग-संग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और

‘जारभाव’ की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? गोपियों परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं, परंतु उनमें परकीयाभाव था। परकीया होनेमें और परकीयामाव होनेमें आकाश—पातालका अन्तर है। परकीया भावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—(१) अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, (२) मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और (३) दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयामावमें निरन्तर एक साथ रहनेके कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परंतु परकीयामावमें ये तीनों भाव उत्तरोत्तर बढ़ते रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्वका और है—वह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र—कन्याओंका पालन—पोषण, रक्षणावेक्षण पतिसे चाहती है। वह समझती है कि इनकी देख—रेख करना पतिका कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं और वह पतिसे ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीयामें यह सकामभाव छिपा रहता ही है। परंतु परकीया अपने प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपनेको देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियोंमें यह भाव भी मलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत—साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेकों दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं; इसलिये गोपियोंपर परकीयापनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है। जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हल्की—सी प्रकाश—रेखा आ जाती है; उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्शस्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कल्पितक साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सैवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उल्लंघन कैसे कर सकती हैं ? और समस्त धर्म—मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्माल्लंघनका लाञ्छन कैसे लगाया जा सकता है ? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्य लीलाके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपञ्चाध्यायीपर अबतक

अनेकों भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिनके लेखकोमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है। किसीने इसे 'कामपर विजय' बतलाया है। किसीने 'भगवान्का दिव्य विहार' बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परन्तु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण—प्रसंग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मिलन—विलासादिरूप शृंगारका रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री—पुरुषोंका मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, परात्पर—तत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरंकुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन, एवं नायिका थीं स्वयं ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायब्यूहरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कडुए इन्द्रायण (तूँबे)—जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबे—जैसी ही मूलम हो, परन्तु इससे असलमें वह मिश्रीका तूँबा कडुआ थोड़े ही हो जाता है ? क्या तूँबेके आकारकी होनेसे ही मिश्रीके स्वाभाविक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है ? नहीं—नहीं, वह किसी भी आकारमें हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा केवल मिश्री—ही—मिश्री है। बल्कि इसमें लीला—चमत्कारकी बात अवश्य है। लोग समझते हैं कडुआ तूँबा और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दघनविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंगा अभिन्न—स्वरूपा गोपियोंकी लीला भी देखनेमें कैसी ही क्यों न हो, वस्तुतः वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे कामका कडुआ स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीलाकी नकल किसीको कभी नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थोंके द्वारा मायातीत भगवान्का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है ? कडुए तूँबेको चाहे जैसी सुन्दर मिठाईकी आकृति दे दी जाय, उसका कडुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्योंने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरंग—लीलाओंका अनुकरण करके नायक—नायिकाका रसास्वादन करना

चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा। श्रीकृष्णकी इन लीलाओंका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजीने रासपञ्चाध्यायीके अन्तमें सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान्के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परंतु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये।

यदि वह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी, जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत—से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री—पुरुष—सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के—लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, मुडुई—गुडुएकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोज—भात भी करते हैं। गाँवके बड़े—बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरञ्जन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियों भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं। यह तो साधारण बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण—जैसे असाधारण धी—शक्ति—सम्पन्न बालक, जिनके अनेकों सद्गुण बाल्यकालमें ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य और शक्तिसे बड़ी—बड़ी विपत्तियोंसे ब्रजवासियोंने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक—बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये—नये ढंगसे उनका मनोरञ्जन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरञ्जनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमान्की साथ भागवतमें आये हुए 'काम', 'रति' आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके परम त्यागमय प्रेमका ही नामान्तर 'काम' है 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।' और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीडा ही 'रति' है। 'आत्मनि यो रममाणः' 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्।' इसीलिये इस प्रसंगमें स्थान—स्थानपर उनके लिये

विष्णु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ, 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' आदि पद आये हैं—जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

राजा परीक्षितने अपने प्रश्नोंमें जो शंकाएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २६ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है। उस उत्तरसे वे शंकाएँ तो हट गयीं हैं, परंतु भगवान्की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया; सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३ वें अध्यायमें रासलीला-प्रसंग समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगत्में व्याख्या की भी नहीं जा सकती; क्योंकि यह इस जगत्की क्रीडा ही नहीं है। यह तो उस दिव्य आनन्दमय—रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिसके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। कुछ लोग इस लीलाप्रसंगको भागवतमें क्षेपक मानते हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं; क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसंग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों।

रासपञ्चाध्यायीके पाठकोंको इतना तो निश्चय रूपसे अवश्य ही मान लेना चाहिये कि इसमें लौकिक कामगन्धके लेशकी भी कल्पना नहीं है। यह विभूतियुक्त दिव्य चिन्मय पूर्णशक्तिके साथ सच्चिदानन्दधन परिपूर्णतम भगवान्का अप्राकृत और अचिन्त्य पवित्रतम प्रेम-रसका महास्वादन है। इसीसे श्रीशुकदेवजीने इस रासलीलाके श्रवण-वर्णनका महान् तथा अपूर्व फल बतलाया है—'हृद्रोग कामका समूल नाश और प्रेमरूपा पराभक्तिकी प्राप्ति' इससे सिद्ध है कि यह दिव्यरसका प्रवाह ही है, इसमें लौकिक काम गाथाका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

विक्रीडितं ब्रजबधूमिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुश्रुणुयादथ वर्णयेद् यः।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

'ब्रजबधुओंके साथ भगवान्की इस रासक्रीडाका जो संशयरहित मनसे श्रद्धाके साथ श्रवण और कीर्तन करेगा, वह शीघ्र ही भगवान्की

प्रेमा—पराभक्तिको प्राप्त होगा और उसके हृदरोग—कामका सर्वथा विनाश हो जायगा।

असलमें भगवान्की इस दिव्यलीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये है, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्के रसमय दिव्यलीलालोकमें भगवान्के अनन्त प्रेमका अनुभव करे। अतः इस रासपञ्चाध्यायीका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शंका न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये तथा श्रद्धायुक्त हृदयसे इसे भगवान्की पवित्रतम लीला समझकर ही पढ़ना—सुनना चाहिये।



रास—विलास

कुसुमित कुंज कल्पतरु—कानन मनिमय अजिर सुहावन ।
 रास—विलास—निरत नट—नागर गोपी—जन—मन—भावन ॥
 बिमल बिनोदिनि बचन—बिदग्धा मुग्धा नागरि नारी ।
 नित नव तरुनि, नटिनि निरूपम, नित मनमोहन—मनहारी ॥
 कोटि—कोटि कामिनि, दामिनि घन संग सुसोमन साजै ।
 मन्मथ—मन्मथ मुरलि—मनोहर द्वै—द्वै के बिच राजै ॥

(पद—रत्नाकर, पद सं० २६७)

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

रासपञ्चाध्यायी

पहला अध्याय

श्रीबादरायणिरुवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ १ ॥

श्रीबादरायणि (व्यासजी)के पुत्र शुकदेवजीने कहा—ऐश्वर्य—वीर्य आदि षड्विध महान् गुणोंसे युक्त भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्महरणके समय गोपकुमारियोंको दिये हुए वचनके अनुसार शरत्कालीन विकसित मल्लिका—चमेली आदि पुष्पोंसे परिशोभित उन रात्रियोंको देखकर योगमाया नामक अपनी अचिन्त्य महाशक्तिको प्रकट किया और गोपरमणियोंके साथ विहार करनेकी इच्छा की ॥ १ ॥

तदोदुराजः ककुभः करैर्मुखं

प्राध्या विलिम्पन्नरुणेन शंतमैः ।

स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्

प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥ २ ॥

जब भगवान्ने विहार करनेकी इच्छा की, तब उसी क्षण—दीर्घ प्रवासके पश्चात् घरमें आया हुआ प्रियतम जैसे अपने अत्यन्त सुखद हाथोंसे

अपनी प्रेयसीका मुख—कमल अरुणवर्ण केसरसे रँग दे, वैसे ही नक्षत्रपति चन्द्रमाने गगन—मण्डलमें उदित होकर अपने सुखमय सुस्निग्ध किरणरूपी कर—कमलोंद्वारा पूर्वदिशारूप वधूका मुख अरुण वर्ण केसरसे रँग दिया। इससे जगत्के प्राणियोंका शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे उत्पन्न संताप दूर हो गया ॥ २ ॥

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं

रमाननाभं नवकुंकुमारुणम् ।

वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं

जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥ ३ ॥

रासलीलाके इच्छुक भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि कुमुदिनीको विकसित करनेवाला पूर्णचन्द्र आकाश—मण्डलमें उदित हो गया है, लक्ष्मीजीके मुखकमलकी भौंति उसकी किरणप्रभा सुशोभित है तथा नवीन कुंकुमके समान वह अरुणवर्ण हो रहा है और उसकी कोमल किरणोंसे समस्त वन प्रकाशित एवं सुरञ्जित हो उठा है, तब इसी समयको रासक्रीड़ाके लिये उपयुक्त दिव्य उज्ज्वल रसके उद्दीपनकी पूर्ण सामग्रीसे युक्त समझकर उन्होंने सुन्दर नेत्रोंवाली ब्रजसुन्दरियोंके मनको हरण करनेवाला सुललित स्वरोंमें मधुर मुरलीका वादन किया ॥ ३ ॥

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं

ब्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।

आजगुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः

स यत्र कान्तो जवलोककुण्डलाः ॥ ४ ॥

ब्रजसुन्दरियोंका मन तो पहलेसे ही श्यामसुन्दरने अपने वशमें कर रखा था। अब उस मिलन—लालसा—प्रेम बढ़ानेवाले वेणुगीतको सुनकर तो वे सर्वथा विमुग्ध हो गयीं। उनकी मय, संकोच, मर्यादा, धैर्य आदि स्त्री वृत्तियों विलुप्त हो गयीं और वे जहाँ प्रियतम मुरली बजा रहे थे, वहाँ शीघ्रतासे जा पहुँचीं। उनमें किसीने भी परस्पर किसीको जानेकी सूचना तक नहीं दी। बड़े वेगसे चलनेके कारण उस समय उनके कानोंके कुण्डल नाच रहे थे ॥ ४ ॥

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकः ।

पयोऽधिभित्त्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णका वंशीनाद सुनते ही—प्रियतम भगवान्का आह्वान सुनते ही उनकी ऐसी दशा हुई कि श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये सदा ही समुत्सुक रहनेवाली कुछ गोपियाँ जो दूध दुह रही थीं, वे दुहना बीचमें ही छोड़कर चल दीं। कुछ चूल्हेपर दूध औटा रही थीं, वे दूध उफनता हुआ छोड़कर तथा कुछ दूसरी गोपियाँ हलुआ पका रही थीं, वे तैयार हुए हलुआको चूल्हेसे बिना उतारे ही ज्यों-की-त्यों छोड़कर चली गयीं ॥ ५ ॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः ।

शुश्रुषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽप्रास्य भोजनम् ॥ ६ ॥

कुछ अपने पति-पुत्रादिको भोजन परोस रही थीं, वे परोसना छोड़कर, कुछ छोटे बालकोंको दूध पिला रही थीं, वे दूध पिलाना छोड़कर चल दीं। कुछ अपने पतियोंकी सेवा-शुश्रुषा कर रही थीं, वे सेवा-शुश्रुषा छोड़कर और कुछ स्वयं भोजन कर रही थीं, वे भोजन करना छोड़कर प्रियतम श्रीकृष्णके पास चल पड़ीं ॥ ६ ॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोषणे ।

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ॥ ७ ॥

कुछ दूसरी गोपियाँ अपने शरीरमें अंगराम—केसर-चन्दनादि लगा रही थीं, वे उसे छोड़कर, कुछ उबटन लगा रही थीं, वे उबटना छोड़कर और कुछ आँखोंमें अञ्जन लगा रही थीं, वे अञ्जन लगाना छोड़कर चल दीं। कुछ गोपांगनाएँ वस्त्र-अलंकार पहन रही थीं, वे उलटे-पलटे वस्त्राभूषण धारणकर—जैसे ओढ़नीको कमरमें बाँधकर, लहंगा ओढ़कर, गलेका हार कमरमें पहनकर और करधनीको गलेमें डालकर—प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये पागलकी तरह उनके पास दौड़ पड़ीं ॥ ७ ॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ।

गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥

श्रीगोपांगनाओंका आत्मा—मन श्रीगोविन्दके द्वारा हर लिया गया था; इसलिये वे ऐसी सर्वथा मोहित—बाह्याविवेकसे शून्य हो गयीं कि अपने

पति, पिता तथा भाई—बन्धुओंके द्वारा रोकी जानेपर भी मुड़ीं नहीं। वे अपने—आपको भूलकर श्रीकृष्ण—संगकी प्राप्तिके लिये दौड़ पड़ीं ॥ ८ ॥

अन्तर्गृहस्ताः कश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।

कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥

श्रीगोपांगनाएँ दो प्रकारकी थीं—नित्यसिद्धा और साधनसिद्धा। श्रीराधा तो भगवान्की आह्लादिनी शक्ति ही थीं। ललिता, विशाखा, रूपमञ्जरी, अनंगमञ्जरी आदि सखी—सहचरी नित्यसिद्धा थीं। उन्हें तो कोई रोक ही नहीं सकता था। दण्डकारण्यवासी महर्षि आदि जो गोपीदेहको प्राप्त थे, वे साधनसिद्धा गोपियों थीं। उनमेंसे कुछ गोपांगनाओंकी साधना अभी पूर्ण नहीं हुई थी, इसलिये उनकी श्रीकृष्णके मिलनकी रीति दूसरी थी। अतएव वे उस समय घरके भीतर गयी हुई थीं। पतियोंने घरोंके दरवाजे बंद कर दिये; इसलिये उनको बाहर निकलनेका मार्ग ही न मिला। तब वे आँखें मूँदकर उन प्रियतम श्रीकृष्णकी भावनासे भावित होकर बड़ी तन्मयतासे उनके सौन्दर्य—माधुर्य और उनकी मधुरतम लीलाओंका ध्यान करने लगीं ॥ ९ ॥

दुस्सहप्रेष्विरहतीव्रतापधुताशुभाः ।

ध्यानप्राप्ताध्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः ॥ १० ॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः ।

जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥ ११ ॥

परम प्रियतम श्रीकृष्णके साक्षात् मिलनेमें जब यों बाधा पड़ गयी, तब उसी क्षण उनके हृदयोंमें असह्य विरहकी तीव्र ज्वाला धधक उठी—इतनी भयानक जलन हुई कि उनके अंदर अशुभ संस्कारोंका जो कुछ लेशमात्र शेष था, वह सारा भस्म हो गया। फिर तुरंत ही वे श्रीकृष्णके ध्यानमें निमग्न हो गयीं। ध्यानमें प्राप्त हुए श्रीकृष्णके आलिंगनसे उन्हें इतना सुख मिला कि उनके सब—के—सब पुण्यके संस्कार भी एक ही साथ समूल नष्ट हो गये। यद्यपि गोपियोंने उस समय उन श्रीकृष्णको जार—भावसे ही केवल ध्यानमें प्राप्त किया था, फिर भी वे थे तो साक्षात् परमात्मा ही, चाहे किसी भी भावसे उनका आलिंगन प्राप्त हुआ हो; अतएव उन्होंने पाप और पुण्यरूप बन्धनसे रहित होकर उसी क्षण प्रकृत (हाड—मांससे बने) शरीरको छोड़ दिया और भगवन्की लीलामें प्रवेश करने योग्य दिव्य अप्रकृत देहको प्राप्तकर वे प्रियतम श्रीकृष्णसे जा मिलीं ॥ १०—११ ॥

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।

गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणाधियां कथम् ॥ १२ ॥

महाराज परीक्षितने पूछा—श्रीकृष्णलीलामाधुरीका नित्य मनन करनेवाले श्रीशुकदेवजी ! गोपियों तो श्रीकृष्णको केवल परम प्रियतमरूपसे ही जानती थीं, वे साक्षात् परब्रह्म हैं, ऐसा अनुभव तो वे करती नहीं थीं। उनकी बुद्धि तो श्रीकृष्णके सौन्दर्य—माधुर्य—लावण्य आदि गुणोंमें ही लगी हुई थी। ऐसी स्थितिमें वे त्रिगुणमय देहादि संसारके प्रवाहसे मुक्त कैसे हो गयीं ? वे संसारसे मुक्त होकर परमात्मा श्रीकृष्णसे कैसे जा मिलीं ? ॥ १२ ॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्तै चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताघोक्षजप्रियाः ॥ १३ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित ! मैं तुमसे पहले ही (सातवें स्कन्धमें) कह चुका हूँ कि चेदिराज शिशुपाल समी इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष रखनेपर भी प्राकृत शरीरको त्यागकर अप्राकृत पार्षददेहरूप सिद्धिको प्राप्त हो गया था। फिर जो सम्पूर्ण प्रकृति और उसके गुणोंसे अतीत श्रीकृष्णकी प्रिया हैं और उनमें अनन्य प्रेम करती हैं, वे गोपियों उनको प्राप्त कर लें—इसमें कौन आश्चर्यकी बात है ॥ १३ ॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।

अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥ १४ ॥

राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण जन्म—मृत्यु आदि षड्विकारोंसे रहित अविनाशी परब्रह्म हैं, वे अपरिच्छिन्न हैं, मायिक गुणोंसे अथवा गुण—गुणी—भावसे रहित हैं और अचिन्त्यानन्त अप्राकृत परमकल्याणरूप दिव्य गुणोंके परम आश्रय तथा सम्पूर्ण गुणोंका नियन्त्रण करनेवाले हैं, वे तो जीवोंके परम कल्याणके लिये ही आविर्भूत होते हैं ॥ १४ ॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमेवञ्च सौहृदमेव च ।

नित्यं हरी विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ १५ ॥

इसलिये जो व्यक्ति किसी भी सम्बन्धसे अपने जीवनको इन सर्व-दोषहारी भगवान्से जोड़ देते हैं, वह सम्बन्ध चाहे सदा कामका हो, क्रोधका हो, भयका हो अथवा स्नेह, एकात्मता या सौहार्दका हो, वे निश्चय ही भगवान्में तन्मय हो जाते हैं ॥ १५ ॥

न चैव विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।

योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते ॥ १६ ॥

अतएव तुम—सरीखे भागवतको जन्मादिरहित, योगेश्वरोंके भी परम ईश्वर, ऐश्वर्य, तीर्ण, गण श्री, ज्ञान और वैराग्यके परम निकंतन भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णके सम्बन्धसे केवल परमप्रियतम माननेवाली गोपियोंकी गुणमय देहसे मुक्ति कैसे हो गयी—इस रूपमें तनिका भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये । गोपियोंकी तो बात ही क्या, श्रीकृष्णके सम्बन्धसे तो स्थावर आदि समस्त जगत् संसार—बन्धनसे मुक्त हो सकता है ॥ १६ ॥

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् ब्रजयोषितः ।

अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचःपेशीर्विमोहयन् ॥ १७ ॥

अस्तु अब आगे क्या हुआ, यह सुनो ! कर्कशोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णने जब यह देखा कि ब्रजसुन्दरियों में अत्यन्त समीप आ गयी हैं, तब उन्होंने अपनी मनोहर वाक्चातुरीसे उनको सर्वथा मोहित करते हुए कहा ॥ १७ ॥

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि व ।

ब्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महामाग्यवती गोपियों ! तुम भले आयीं, तुम आज्ञा दो, तुमलोगोंको प्रिय लगनेवाला मैं कौन—सा कार्य करूँ ? ब्रजमें सब कुशल—मंगल तो है न ? इस समय तुमलोग यहाँ मेरे पास किस प्रयोजनसे पधारीं—यह तो बताओ ॥ १८ ॥

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।

प्रतियात ब्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥ १९ ॥

इस बातको सुनकर गोपियों लज्जायुक्त होकर मुस्कराने लगीं, तब

उन्हें भय दिखाकर उनके प्रेमकी परीक्षा लेते हुए भगवान्ने फिर कहा—अरी सुन्दरियों ! यह रात्रिका समय है; जो स्वभावतः ही बड़ा भयानक है; फिर इस वनमें बाघ—सिंह आदि हिंसक प्राणी भरे हुए हैं। अतः तुम सब तुरंत व्रजको लौट जाओ। रातके समय इस घोर वनमें स्त्रियोंका ठहरना उचित नहीं है ॥ १६ ॥

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।

विविचन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृद्वं बन्धुसाध्वसम् ॥ २० ॥

जब भयका उनपर कोई असर नहीं हुआ, तब भगवान्ने उन्हें अपने घरवालोंकी दुश्चिन्ताका स्मरण दिलाया और कहा—देखो, तुम्हारे माता—पिता, पुत्र, भाई और पति तुम्हें घरमें न देखकर इधर—उधर दूँढ रहे होंगे। उन आत्मीय स्वजनोंके मनमें यह भय मत उत्पन्न होने दो कि पता नहीं, तुम्हारा क्या अनिष्ट हो रहा होगा ॥ २० ॥

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।

यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥ २१ ॥

(उपर्युक्त तीन श्लोकोंके द्वारा भगवान्ने गोपियोंके अनन्य प्रेमभावकी परीक्षा की। अनन्य—एकनिष्ठ प्रेम हुए बिना भगवान् कभी प्रेमास्पदरूपसे प्राप्त नहीं होते। जब भगवान्की ऐसी बातें सुनकर भी गोपियों कुछ बोलों नहीं तथा प्रणय—कोपके दश होकर दूसरी ओर देखने लगीं, तब भगवान् उन्हें वनशोभाकी बात कहकर सतीरूपसे पतिसेवा करने तथा वात्सल्यभावसे बालक—वत्सोंकी सँभालनेका कर्तव्य दिखाते हुए फिर कहने लगे—)

कदाचित् तुम सब वनकी शोभा देखने आयी होगी तो तुमलोगोंने भौंति—भौतिके रंगोंवाले परम विचित्र सुगन्धिसे सम्पन्न पुष्पोंसे परिशोभित, पूर्णचन्द्रमाकी किरणप्रभासे प्रभासित तथा यमुनाजलका स्पर्श करके बहनेवाले शीतल पवनकी मन्द—मन्द गतिसे नाचते हुए वृक्षोंके पत्तोंसे विमूषित वृन्दावनको भी देख लिया ॥ २१ ॥

तद् यात माचिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।

क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥ २२ ॥

इसलिये हे सतियों ! अब देर मत करो, बहुत शीघ्र व्रजको लौट जाओ। घर जाकर अपने—अपने पतियोंकी सेवा करो। देखो, तुम्हारे घरके

बछड़े और छोटे-छोटे बच्चे से रहे हैं, जाकर उन्हें दूध पिलाओ तथा बछड़ोंके लिये गौरें भी दुहो ॥ २२ ॥

अथवा मदभिस्नेहाद् भक्त्यो यन्त्रिताशयाः ।

आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥ २३ ॥

भगवान्की इस बातको सुनकर गोपियोंके मनमें बड़ा क्षोभ हुआ, तब भगवान् उनको आश्वासन देते हुए सती स्त्रियोंके परमधर्म पतिसेवा तथा जारसेवनके दुष्परिणामका स्मरण कराकर बोले—‘अथवा यदि तुमलोग मेरे प्रति अत्यन्त प्रेमपरवश होकर आयी हो तो यह तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि प्राणिमात्र (पशु-पक्षीतक) मुझसे प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया ।

तदबन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥ २४ ॥

परन्तु हे कल्याणी सतियों ! यह सब होते हुए भी स्त्रियोंका परम धर्म तो यही है कि निष्कपट भावसे पति और उसके भाई-बन्धुओंकी सेवा करें तथा पुत्र-कन्यादिका और सेवक आदिका पालन-पोषण करें ॥ २४ ॥

दुश्शीलो दुर्मगो वृद्धो जडो रोग्यघनोऽपि वा ।

पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेऽसुभिरपातकी ॥ २५ ॥

जिन स्त्रियोंको इस लोकमें कीर्ति और मृत्युके पश्चात् श्रेष्ठ लोक प्राप्त करनेकी इच्छा हो, वे दुर्गणोंसे भरे—बुरे स्वभाववाले, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी एवं निर्धन पतिका भी कमी त्याग न करें, यदि वह महापापी (भगवान्का द्रोही) न हो ॥ २५ ॥

अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।

जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥ २६ ॥

अच्छे कुलकी स्त्रियोंके लिये जारपुरुषकी सेवा स्वदेश-परदेश, व्यवहार-परमार्थ, इहलोक-परलोक—सर्वत्र अत्यन्त निन्दनीय है। उसके कारण स्वर्गसे वञ्चित होना पड़ता है, संसारमें अपयश होता है, इस लोकमें स्वजनोका तथा परलोकमें नरकयन्त्रणाका भय प्राप्त होता है। वह कुकर्म अत्यन्त तुच्छ—क्षणिक सुख देनेवाला है और कष्टदायक है ॥ २६ ॥

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।

न तथा संनिकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ २७ ॥

इसपर भी जब गोपियोंको चुप और अपनी अनन्यतापर दृढ़ देखा, तब उपदेश करते हुए बोले—

फिर मेरे नाम—गुण—लीला आदिके श्रवणसे, दूरसे ही मेरा दर्शन करनेसे, निरन्तर मेरे रूपका चिन्तन—ध्यान करनेसे मेरे नाम—गुणोंकी चर्चासे मेरे प्रति जैसा प्रेम उमड़ता है, वैसा प्रेम अत्यन्त समीप रहनेसे नहीं होता; इसलिये तुमलोग अपने—अपने घर लौट जाओ ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।

विषण्णा भग्नसंकल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित ! गोविन्दकी उपर्युक्त अत्यन्त अप्रिय बातें सुनकर गोपियाँ खिन्न हो गयीं, उनकी आशा टूट गयी और वे भीषण चिन्ताके अथाह समुद्रमें डूब गयीं ॥ २८ ॥

कृत्वा मुखान्यव शुचः स्वसनेन शुष्यद्—

बिम्बाघराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।

अस्त्रैरुपास्तमधिभिः कुचकुंकुमानि

तस्फुर्जन्त्य उरुदुःखमराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥

उनका हृदय दुःखसे भर गया, उनके लाल—लाल पके हुए बिम्बफल—से अधर शोकके कारण चलनेवाले लंबे तथा गरम श्वासोंके तापसे सूख गये, उन्होंने अपने मुख नीचेकी ओर लटका लिये और पैरके नखोंसे वे पृथ्वीको कुरेदने लगीं। उनके नेत्रोंसे काजलसे सने आँसू बह—बहकर क्लमस्थलपर पहुँच गये और वहाँ लगी हुई केसरको धोने लगे। वे चुपचाप खड़ी रहीं गयीं, कुछ भी बोल न सकीं ॥ २९ ॥

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
 कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।
 नेत्रे विमृज्य रुदितोपहतस्म किञ्चित्
 संरम्भगदगदगिरोऽब्रुवतानुक्ताः ॥ ३० ॥

उन गोपियोंका मन एकमात्र श्रीकृष्णमें ही अनन्य भावसे अनुक्त था। वे उनके लिये—उनकी सेवाके जतिरिक्त सभी भोगोंका, सभी कामनाओंका सर्वथा त्याग कर चुकी थी। जब उन्होंने अपने प्रियतम श्रीकृष्णके मुखसे प्रेमशून्य व्यक्तिकी—सी निष्ठुरतासे भरी उपेक्षायुक्त वाणी सुनी, तब उन्हें बड़ी ही मर्मवेदना हुई। रोते-रोते उनकी आँखें रुँध गयीं, फिर उन्होंने धीरज धारण करके अपनी आँखोंके आँसू पोछे और पुनः रोती हुई प्रणयकोपके कारण गद्गदवाणीसे कहने लगीं ॥ ३० ॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
 संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
 भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
 देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षुन् ॥ ३१ ॥

गोपियाँ बोलीं—हे सर्वसमर्थ प्रभो ! हमारे प्राणवल्लभ ! हे स्वच्छन्दकिहारी ! आप परम कोमलस्वभाव होकर भी इस प्रकारके निष्ठुरताभरे वचन क्यों बोल रहे हैं ? ऐसा तो आपको नहीं चाहिये। हम धर्म—लज्जा—पति—स्वजनादि समस्त विषयोंको सर्वथा त्यागकर यहाँ आयी हैं। हम तुम्हारे चरणतलोंकी सेविकाएँ हैं। हमलोगोंका परित्याग मत करो। जैसे आदिदेव भगवान् नारायण संसार बन्धनसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंका मनोस्थ पूर्ण करते हैं, वैसे ही तुम भी हमारे अंदर जाइत हुई तुम्हारी चरणसेवा—वासनाको पूर्ण करके हमें कृतार्थ करो ॥ ३१ ॥

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरंग
 स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
 अस्त्येवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
 प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥

हे प्यारे ! तुम सब घमोंका रहस्य जानते हो। तुमने पति, पुत्र एवं अन्य स्वजनोंकी यथायोग्य सेवा करना ही स्त्रियोंका अपना धर्म है, जो यह उपदेश दिया, सो तुम्हारा यह उपदेश तुम उपदेश करनेवालेके प्रति ही हमारी ओरसे चरितार्थ हो जाय; क्योंकि तुम ईश्वर हो—नहीं, नहीं तुम्हीं तो प्राणिमात्रके प्रियतम, बन्धु और आत्मा हो। अर्थात् पति—पुत्रादिमें जब तुम्हीं आत्मारूपसे स्थित हो, अतः उनकी देहमें भी सेव्य तुम्हीं हो—वे ही तुम जब साक्षात् हमें प्राप्त हो, तब एकमात्र तुम्हारी सेवा ही उन सबकी सेवा है; तुम्हारे उपदेशकी सच्ची चरितार्थता तुम्हारी सेवासे ही होती है।। ३२।।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्

नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरर्तिदैः किम्।

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या

आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३ ॥

प्रियतम ! तुम्हीं सबके परम बन्धु, आत्मा और नित्यप्रिय सनातन—सहज प्रेमास्पद हो, इसलिये सार—असारको समझनेवाले चतुर पुरुष तुम्हींसे प्रेम करते हैं। संसारके पति—पुत्रादि तो अपनी ममतामें फँसाकर वस्तुतः नाना प्रकारसे दुःख ही देनेवाले हैं उनसे हमारा कौन—सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतएव हे परमेश्वर ! तुम हमलोगोंपर रीझ जाओ। कमलनयन ! चिरकालसे पाली—पोसी हुई हमारी सेवामिलाषारूप लताको यों निष्कुरतासे काट न दो।। ३३।।

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु

यन्निर्विशत्युत् करावपि गृह्यकृत्ये ।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्

यामः कथं ब्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ! हमलोगोंका जो चित्त अबतक घरमें मजेमें लग रहा था, उसको अपने सहज ही लूट लिया है तथा घरके कामोंमें लगे हुए हमारे दोनों हाथोंको भी अपनी ओर खींच लिया है। इधर आपके द्वारा खींचे हुए हमारे ये दोनों चरण भी अब आपके चरणतलसे दूर हटकर एक पग भी जानेके लिये तैयार नहीं हैं। तब आप ही बताओ, हमलोग कैसे ब्रजको लौटकर जायँ और वहाँ जाकर भी क्या करें ?।। ३४।।

सिञ्चांग नस्त्वदधरामृतपूरकेण
हासावलोककलगीतजह्वच्छयाग्निम् ।

नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा
ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥ ३५ ॥

प्राणवल्लभ ! तुम्हारी मनोहर मुसकान, प्रेम-सुधामयी दृष्टि और मुरलीकी मधुरतम तानने हमारे हृदयमें तुम्हारे प्रेमकी अग्निको धधका दिया है। उसे अपने अधरोंकी सुधा-धारके प्रवाहसे बुझा दो। ऐसा न करोगे तो प्यारे सखा ! हम सब तुम्हारे विरहकी प्रचण्ड अग्निसे अपने शरीरको जला देंगी और ध्यानके द्वारा तुम्हारे चरणकमलोंके समीप जा पहुँचेंगी ॥ ३५ ॥

यर्हाम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया
दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।

अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमंग
स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयागः ॥ ३६ ॥

हे कमललोचन ! तुम्हारे चरणतल वनवासियोंको बड़े प्रिय हैं; और-तो-और नारायणकी प्रिया लक्ष्मीदेवीको भी सुख देनेवाले हैं; उन चरणोंका गोवर्धन आदि कुञ्जस्थलोंमें हमें जिस क्षण स्पर्श प्राप्त हुआ और तुमने हमें सेवाके लिये स्वीकार करके आनन्दित किया, उसी क्षणसे प्यारे ! हम किसी दूसरेके पास एक पलके लिये खड़ी भी नहीं हो सकतीं, पति-पुत्रादिकी सेवा करना तो दूरकी बात है ॥ ३६ ॥

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्धापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।

यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्दद् वयं च तद पादरजः प्रपन्नाः ॥ ३७ ॥

जिन लक्ष्मीजीकी कृपादृष्टि प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि बड़े-बड़े देवता प्रयास करते रहते हैं, वे लक्ष्मीजी भी श्रीनारायणके वक्षःस्थलपर नित्य स्थान प्राप्त कर लेनेपर भी तुलसीजीके साथ तुम्हारे चरण-कमलकी उस रजको पानेके लिये लालायित रहती हैं, जो तुम्हारे सेवकोंको सहज प्राप्त है, श्रीकृष्ण ! हमलोग भी उन्हीं की भौंति सर्वत्याग करके तुम्हारी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हैं ॥ ३७ ॥

तत्रः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
 प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
 त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम—
 तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥ ३८ ॥

भगवन् ! तुम सबके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाले हो, हम सब तुम्हारे चरणोंकी सेवा करनेकी आशासे ही घर-कुटुम्बादि सब कुछ त्यागकर तुम्हारे चरणोंकी शरणमें आयी हैं, अब तुम हमपर प्रसन्न होओ । हे पुरुषरत्न ! तुम्हारी मधुर मुसुकान तथा तिरछी चितवनने हमारे देह तथा मनको प्रेम—मिलन—लालसाकी तीव्र अग्निसे संतप्त कर दिया है, अब तुम हमलोगोंको दासीके रूपमें स्वीकारकर सेवाका सौभाग्य प्रदान करो ॥ ३८ ॥

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री—
 गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
 दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
 वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥ ३९ ॥

प्रियतम ! तुम्हारे मुखकमलको, जो घुँघराली अलकोंके भीतरसे झलक रहा है, जिसके कमनीय कपोलोंपर कुण्डलोंकी छवि छा रही है, जिसके मधुर अधर अमृतभय हैं तथा जो हृदयको हर लेनेवाली तिरछी चितवन तथा मधुर मुसुकानसे समन्वित है, निरखकर तथा अभयदान देनेवाली दोनों भुजाओंको एवं सौन्दर्यकी एकमात्र मूर्ति श्रीलक्ष्मीजीके नित्य रतिप्रद वक्षःस्थलको निहारकर हम सब तुम्हारी सदाके लिये बिना मोलकी दासी बन चुकी हैं ॥ ३९ ॥

का स्त्र्यंग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
 सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न घलेत्त्रिलोक्याम् ।
 त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
 यद् गोद्विजद्भुममृगाः पुलकान्यविभ्रन् ॥ ४० ॥

प्रियतम ! तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी रमणी है, जो तुम्हारे मधुर-मधुर पद और आरोह-अवरोहक्रमसे विभिन्न प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे समन्वित मुरली-संगीतको सुनकर तथा त्रिभुवनके सौभाग्यरूप इस त्रिभंग-ललित श्यामसुन्दर-रूपको देखकर सर्वथा मोहित हो अपनी

आर्यमर्यादासे विचलित न हो जाय। स्त्रियोंकी तो बात ही क्या है, तुम्हारा त्रिभुवन—मन—मोहन रूप तथा मुरली—संगीत ऐसा मोहक है कि इसे देख—सुनकर गौ, पक्षी, वृक्ष और मृग आदि प्राणी भी परमानन्दसे पुलकित हो गये हैं ॥ ४० ॥

व्यक्तं भवान् ब्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
 देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
 तन्नो निधोहि करपंकजमार्तबन्धो
 तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम् ॥ ४१ ॥

दयामय आप आर्तोंके बन्धु हैं और यह प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार आदिदेव भगवान् श्रीनारायण देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी ब्रजमण्डलके भयको दूर करनेके लिये ही प्रकट हुए हैं। हम भी आपके मिलन—मनोरथकी अग्निसे संतप्त, अलान्त आर्त हैं। अतएव आप हम किंकरीयोंके कक्षस्थलोंपर और शिरपर अपने कमल—कोमल हाथ रखकर हमें दुःखमुक्त कर दें ॥ ४१ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विकलवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
 प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत ॥ ४२ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—परीक्षित ! सनकादि—शिवादि योगेश्वरोंके भी ईश्वर, नित्य आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले भगवान्ने जब ब्रजगोपियोंकी इस प्रकार मार्मिक व्यथा और व्याकुलतासे पूर्ण वाणीको सुना, तब उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया और शुद्ध मनसे हँसकर वे अपने कक्ष—कमलोंसे उनके आँसू पोंछकर उनके साथ विलास—विहार करने लगे—उन्हें अपना स्वरूपभूत आनन्द देने लगे ॥ ४२ ॥

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः
 प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
 उदारहासद्विजकुन्ददीधिति
 व्यरोचतैणांक इवोद्भुभिर्वृतः ॥ ४३ ॥

प्रियतमकी अत्यन्त समीपता प्राप्त करनेसे गोपरमणियोंका विरहदुःख तथा प्रणयकोप शान्त हो गया और श्रीकृष्णके दर्शन तथा उनकी प्रेमभरी

चितवनके आनन्दसे उनका मुख—कमल प्रफुल्लित हो उठा। वे जब हँसते थे, तब उनकी उज्ज्वल दन्तपंक्तियोंपर कुन्दपुष्पों—जैसी शोभा छा जाती थी। उस समय उनकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो ताराओंसे घिरे हुए पूर्ण चन्द्रमा हों। श्रीकृष्ण इस प्रकार ब्रजबालाओंको सुख देकर भी अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपसे जरा भी च्युत नहीं हुए थे। अर्थात् गोपरमणियोंके साथ उनका यह क्रीडा—विहार सच्चिदानन्दमयी दिव्यलीला थी ॥ ४३ ॥

उपगीयमान उदगायन् वनिताशतयूथपः।

मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥ ४४ ॥

उस समय ब्रजगोपियों अपने प्रियतम श्रीकृष्णके गुण, रूप तथा लीला आदिका मधुर स्वरसे गान करने लगीं, उधर श्रीकृष्ण भी उच्च स्वरसे उनके प्रेम और सौन्दर्यके गीत गाने लगे। इस प्रकार ब्रजसुन्दरियोंके सैकड़ों यूथोंके नायक श्रीकृष्ण वैजयन्ती माला धारण किये श्रीवृन्दावनकी शोभा बढ़ाते हुए विचरण करने लगे ॥ ४४ ॥

नद्याः पुलिनभाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।

रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥ ४५ ॥

तदनन्तर गोपांगनाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाके उस परम रमणीय पुलिनपर पदार्पण किया। वह पुलिन यमुनाजीकी तरल तरंगोंके स्पर्शसे शीतल हो रहा था और कुमुदिनीकी सुन्दर सुगन्धसे युक्त मन्द—मन्द वायुके द्वारा परिसेवित था; वहाँ बर्फके समान उज्ज्वल तथा शीतल बालू बिछी हुई थी। इस प्रकारके आनन्दप्रद पुलिनपर भगवान् अपनी स्वरूपभूता गोपियोंके साथ क्रीडा करने लगे ॥ ४५ ॥

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु—

नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।

क्ष्वेत्वावलोकहसितैर्ब्रजसुन्दरीणा—

मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ॥ ४६ ॥

हाथ फैलाकर आलिंगन करना, हाथ, चोटी, जंघा, लँहगे और वक्षःस्थलका स्पर्श करना, विनोद करना, नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवनसे देखना, मुसकाना—इन सब चेष्टाओंके द्वारा गोपरमणियोंके दिव्य

कामरस—विशुद्ध प्रेमका उद्दीपन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण क्रीड़ाके द्वारा उन्हें आनन्द देने लगे—अपने दिव्य स्वरूपानन्दका वितरण करके उनको तृप्त करने लगे ।। ४६ ।।

एवं भगवतः कृष्णाल्लाब्धमाना महात्मनः ।

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ।। ४७ ।।

परम उदारशिरोमणि सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्णने जब गोपियोंका इस प्रकार सम्मान किया, तब उनके मनमें ऐसा प्रेमामिमान आ गया कि पृथ्वीभरकी समस्त स्त्रियोंमें हमीं सबसे श्रेष्ठ हैं ।। ४७ ।।

तासां तत् सौमगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।

प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ।। ४८ ।।

तब उन ब्रजसुन्दरियोंके उस सौमहृदयके गर्वको तथा अकस्मात् उदय हुए प्रणय—अभिमानको देखकर उस गर्वको शान्त करने तथा मानको दूरकर उन्हें प्रसन्न करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण वहीं उनके बीचमें ही अन्तर्धान हो गये । रहे वहीं, पर उनको देखने बंद हो गये ।। ४८ ।।

दूसरा अध्याय

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव ब्रजांगनाः।

अतप्यंस्तमन्नक्षणाः करिष्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—भगवान् श्रीकृष्ण अकस्मात् अन्तर्धान हो गये, उन्हें न देखकर ब्रजसुन्दरियोंकी वैसी ही विकल दशा हो गयी, जैसी दलके स्वामी गजराजको न देखकर हथिनियोंकी हो जाती है। उनके हृदयमें विरहकी ज्वाला प्रज्वलित हो उठी ॥ १ ॥

गत्यनुरागस्मितविभ्रमेक्षितै—

मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।

आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापते—

स्तास्ता विचेष्टा जगूहस्तदात्मिकाः ॥ २ ॥

रमापति श्रीकृष्णकी ललित गति, प्रेमभरी सुमधुर मुसकान, अत्यन्त मधुर तिरछी भ्रुकुटी, प्रीतिभरी चितवन, मनोरम प्रेमालाप तथा अन्यान्य विविध लीला—विलास एवं शृंगारकी भावभंगियोंसे उनका चित्त खिंचकर श्रीकृष्णमें लगा हुआ था। वे ब्रजगोपियों श्रीकृष्णमें ही तन्मय हो गयीं और फिर श्रीकृष्णकी ही विभिन्न चेष्टाओंका ध्यान करने लगीं ॥ २ ॥

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु

प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।

असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका

न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ ३ ॥

इससे प्रियतम श्रीकृष्णकी ललित गति, मधुर हास, मनोरम चितवन, अमृतमय वचन आदिमें वे श्रीकृष्णकी प्यारी ब्रजसुन्दरियों उनके समान ही बन गयीं। उनके शरीरमें भी वैसी ही चेष्टाओंका प्रकट्य हो गया और वे श्रीकृष्णलीला—विलासके स्मरणजनित भावसे उन्मादिनी होकर श्रीकृष्णस्वरूप ही बन गयीं तथा मैं श्रीकृष्ण ही हूँ परस्पर इस प्रकार अपना परिचय देने लगीं ॥ ३ ॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता।

विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि

भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

जब उनका यह श्रीकृष्णावेश कुछ शिथिल हुआ, तब भाव बदला और वे सब मिलकर ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णके गुणोंका गान करने लगीं तथा प्रेममें पागल-सी होकर एक वनसे दूसरे वनमें उन्हें ढूँढने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण जड़-चेतन सभी पदार्थोंके अंदर और उनके बाहर भी सदा आकाशके सदृश एक रस तथा व्याप्त हैं। वे कहीं गये नहीं थे, परंतु गोपियाँ उन्हें अपने बीचमें न देखकर वनस्पतियोंसे—वृक्ष-लताओंसे उनके समीप जा-जाकर प्रियतमका पता पूछने लगीं ॥ ४ ॥

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थं प्लक्षं न्यग्रोधं नो मनः।

नन्दसूनुर्गतो ह्रत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

ब्रजसुन्दरियोंने पहले बड़े-बड़े वृक्षोंके पास जाकर उनसे पूछा— हे पीपल, पाकर, वट ! नन्द-नन्दन श्यामसुन्दर अपनी प्रेमभरी मुसकान तथा चितवनसे हमलोगोंके मन चुराकर कहीं चले गये हैं, क्या तुमलोगोंने उनको देखा है ? ॥ ५ ॥

कच्चित् कुरबकाशोकनागपुंनागचम्पकाः।

रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

हे कुरबक ! अशोक ! नागकेशर ! पुंनाग चम्पक ! जिनकी मधुरतम मुसकान मात्रसे बड़ी-बड़ी मानिनी रमणियोंका दर्प चूर्ण हो जाता है, वे बलरामजीके छोटे भाई श्रीकृष्णचन्द्र इधरसे गये हैं क्या ? ॥ ६ ॥

कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।

सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥

जब इन पुरुषजातीय वृक्षोंसे उत्तर नहीं मिला, तब उन्होंने स्त्रीजातिके पौधोंसे पूछा— बहिन तुलसी ! तुम तो कल्याणमयी हो, सबका कल्याण चाहती हो। तुम्हारा श्रीगोविन्दके चरणोंमें बड़ा प्रेम है और वे भी तुमसे प्रेम करते हैं; इसीलिये अमरोंसे धिरी हुई तुम्हारी मालाको सदा हृदयपर धारण

करते हैं। उन अपने प्रियतम अच्युत—जो अपने प्रेम—स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते—श्यामसुन्दरको क्या तुमने इधरसे जाते देखा है ? ॥ ७ ॥

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके ।

प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शन माधवः ॥ ८ ॥

गोपियोंने समझा तुलसी श्रीकृष्णको अति प्यारी है, इसको उनका अवश्य पता होगा। पर जब उसने भी कोई उत्तर नहीं दिया, तब वे सुगन्धित पुष्पोंवाले पौधोंसे पूछने लगीं—सोचा कि श्रीकृष्णको इनके पुष्प बहुत प्रिय लगते हैं, अतः इनको पता होगा हे मालती ! चमेली ! जाती ! जूही ! तुम्हारे सुन्दर, सुगन्धित पुष्पोंका चयन करते समय अपने कोमल करोंसे स्पर्श करके तुम्हें आनन्द देते हुए क्या हमारे प्रियतम माधवको तुमने इधरसे जाते देखा है ? ॥ ८ ॥

चूतप्रियालपनसासनकोविदार—

जम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।

रेऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः

शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥ ९ ॥

पुष्पलताओंसे भी जब उत्तर नहीं मिला, तब यह सोचकर कि बड़े—छोटे सभी वृक्ष दीन—दुखियोंके उपकारमें ही सदा लगे रहते हैं, हम सब दुःखसंतप्त हैं, अतः इनके स्वभावकी स्मृति कराते हुए इन वृक्षोंसे पूछें, वे उनसे बोलीं—हे रसाल, प्रियाल, कटहल, पीतशाल, कचनार, जामुन, आक, बेल, मौलसिरी, आम, कदम्ब, नीप और यमुनातटपर विराजमान अन्यान्य तरुवरो ! तुमने तो केवल परोपकारके लिये ही जीवन धारण किया है। हमारा हृदय श्रीकृष्णके बिना सूना हो रहा है, अतएव हम तुमलोगोंसे प्रार्थना करती हैं कि तुम कृपा करके श्रीकृष्णका पता हमें बता दो ॥ ९ ॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रि—

स्पर्शात्सवोत्पुलकितांगरुहैर्विभासि ।

अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा

आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १० ॥

वृक्षोंसे भी जब कोई उत्तर नहीं मिला, तब उन्मादिनी ब्रजसुन्दरियोंने पृथ्वीको सम्बोधन करके कहा— भगवान्की प्रियतमे पृथ्वीदेवि ! तुमने ऐसा

कौन—सा तप किया है जो तुम श्रीकृष्णके चरणारविन्दका स्पर्श प्राप्त करके आनन्दसे उत्फुल्ल हो रही हो और तृण—अंकुर आदिके रूपमें रोमाञ्चित होकर शोभा पा रही हो ? तुम्हारा यह आनन्दोल्लास अभी—अभी श्रीकृष्णके चरणस्पर्शके कारण है। अथवा बलिको छलते समय वामनावतारमें विराटरूपसे अपने चरणोंके द्वारा उन्होंने तुमको नापा था, उसके कारण है ? या उससे भी पूर्व जब तुम्हारा उद्धार करनेके लिये उन्होंने तुमसे वाराहरूपसे आलिंगन किया था, उसके कारण तुम्हें इतना आनन्द हो रहा है ? ॥ १० ॥

अप्येणफल्गुपगतः प्रिययेह गात्रे—

स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो व ।

कान्तांगसंगकुक्षकुंभकुमरञ्जितायाः

कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥

तदनन्तर हरिणियोंकी दृष्टिको प्रसन्न देखकर गोपांगनाओंने सोचा, इन्होंने श्रीकृष्णको देखा होगा और उनसे कहने लगीं—‘अरी सखी हरिणियों ! अपने प्रेममय स्वभावमें नित्य स्थित श्यामसुन्दर अपनी प्राणप्रियाके साथ अपने मनोहर अंगोंके सौन्दर्य—माधुर्यसे तुम्हारे नेत्रोंको निरतिशय आनन्द प्रदान करते हुए तुम्हारे समीपसे तो नहीं गये हैं ? हमें तो ऐसा लगता है, वे यहाँ अवश्य आये हैं, क्योंकि यहाँ गोकुलनाथ (या हमारे गोपीसमुदायके स्वामी) श्रीकृष्णके हृदयपर झूलती हुई उस कुन्दकुसुमोंकी मालाकी मनोरम सुगन्ध आ रही है, जो उनकी परमप्रेयसीके आलिंगनके कारण लगी हुई उसके वक्षःस्थलकी केसरसे अनुरञ्जित रहती है ॥ ११ ॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो

रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।

अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं

किं वाग्निनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥ १२ ॥

हरिणियोंको निस्तब्ध देखकर उन्होंने सोचा, एक बार पुनः वृक्षोंसे पूछकर देखें, अतः वे बोलीं—‘पवित्र तरुवरो ! तुलसी—मञ्जरीके मधुपानसे मत्त हुए घमर जिनके पीछे—पीछे मेंडराते चले जा रहे हैं, जो अपने दाहिने हाथमें नीलाकमल धारण किये हुए हैं और बायें हाथको प्रियतमाके कंधेपर रखे हुए हैं, ऐसे श्रीबलरामजीके छोटे भाई हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर इधरसे

विचरते हुए निकले थे क्या ? तुम जो प्रणाम करनेकी तरह झुके हुए हो, सो क्या उन्होंने प्रेमपूर्ण दृष्टिसे तुम्हारे इस प्रणामका अभिनन्दन किया था ? ॥ १२ ॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।

नूनं तत्करजस्पृष्टा विभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥ १३ ॥

कुछ गोपियोंने कहा—अरी सखियों ! वृक्षोंसे क्या पूछ रही हो । इन लताओंसे भी पूछो, जो अपने पति वृक्षोंकी भुजाओं—शाखाओंसे लिपटी हुई हैं । पर इनके शरीरमें जो नये-नये अंकुरोंके उद्गमरूपमें पुलकावलि छायी हुई है, यह अवश्य ही इनके पति—वृक्षोंसे लिपटी रहनेके कारण नहीं है । यह तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके नखोंके स्पर्शका ही परिणाम है । अहो ! इनका कैसा सौभाग्य है ? ॥ १३ ॥

इत्युन्मत्तवचोगोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः ।

लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥ १४ ॥

परीक्षित् ! इस प्रकार पागलोंकी भाँति प्रलाप करती हुई ब्रजसुन्दरियों भगवान् श्रीकृष्णको ढूँढती हुई विरहदुःखके कारण कातर और असमर्थ हो गयीं । तब उनकी कृष्णतन्मयता फिर बढ़ी और वे अपनेको भगवान् श्रीकृष्ण ही मानकर भगवान्की विभिन्न लीलाओंका अनुकरण करने लगीं ॥ १४ ॥

कस्याञ्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिक्त् स्तनम् ।

तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्चकटायतीम् ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णलीलाका अनुकरण करनेवाली एक गोपी पूतना बन गयी, दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तनपान करने लगी । एक गोपी छकड़ा बन गयी तो दूसरी बालकृष्ण बनकर रोते हुए उसको चरणकी ठोकर मारकर उलट दिया ॥ १५ ॥

दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।

रिगयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥ १६ ॥

कोई एक गोपी तृणावर्त दैत्य बन गयी और बालकृष्ण बनी हुई दूसरी गोपीका हरण करनेका भाव दिखाने लगी । किसी गोपीने अपने पैरोंकी पायजेबकी मधुर ध्वनिको श्रीकृष्णकी किंकिणी—ध्वनि समझकर अपनेको शिशु कृष्ण मान

लिया और दोनों चरणोंको भूमिपर घसीट—घसीटकर रेंगने लगी—भगवान्की मधुर बकियों चलनेकी लीलाका अनुकरण करने लगी ॥ १६ ॥

कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्व काश्चन ।

वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७ ॥

दो गोपियाँ श्रीकृष्ण और बलराम बनकर उनके—जैसे खेल करने लगीं। कुछ गोपियाँ गोप—बालकोंके समान बनकर क्रीड़ा करने लगीं, कुछ बछड़ोंका अनुकरण करने लगीं। एक गोपी वत्सासुर बन गयी, दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसे मारनेकी लीला करने लगी। इसी प्रकार एक गोपी बकासुर बनी और दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसे चीर डालनेका भाव दिखाने लगी ॥ १७ ॥

आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् ।

वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥

जिस प्रकार श्रीकृष्ण वनमें दूर गये हुए गाय—बछड़ोंको वंशी बजा—बजाकर बुलाया करते थे, वैसे ही एक गोपी अपनेको श्रीकृष्ण समझकर वंशीध्वनिके द्वारा गायोंको बुलानेका भाव दिखाने लगी। उस गोपीकी इस वंशी बजानेकी लीलाको देखकर दूसरी कुछ गोपियाँ 'वाह—वाह ! तुम बहुत ही मधुर मुरली बजा रहे हो' यों कहकर उसकी प्रशंसा करने लगीं ॥ १८ ॥

कस्याचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।

कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णके साथ एकमन हुई एक दूसरी गोपी अपनेको श्रीकृष्ण मानकर दूसरी किसी गोपीके गलेमें बाँह डालकर चलने लगी और कहने लगी—अरे सखाओं ! मैं श्रीकृष्ण हूँ, तुम मेरी यह मनोहर चाल तो देखो ॥ १९ ॥

मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्राणं विहितं मया ।

इत्युक्तवैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

एक गोपी श्रीकृष्ण बनकर कहने लगी—तुमलोग आँधी—पानीसे मत डरो, मैंने उससे बचनेकी सारी व्यवस्था कर दी है। यों कहकर वह गोपी गोवर्द्धन—धारणका अनुकरण करती हुई एक हाथसे अपनी ओढ़नीको ऊपर उठाकर उसे तानकर खड़ी हो गयी ॥ २० ॥

आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप ।

दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डघृक् ॥ २१ ॥

राजा परीक्षित् ! एक गोपी कालिय नाग बनी तो दूसरी कोई गोपी श्रीकृष्ण बनकर पैरसे ठोकर मारकर और उसके सिरपर चढ़कर बोली—'अरे दुष्ट सर्प ! तू यहाँसे चला जा । मैं दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये ही आविर्भूत हुआ हूँ' ॥ २१ ॥

तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।

चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा ॥ २२ ॥

उसी समय एक गोपी कृष्ण बनकर दावानलसे डरे हुए गोपोंका अनुकरण करनेवाली कई गोपियोंसे बोली—हे गोपो ! देखो वनमें भयंकर दावानल जल उठा है; तुमलोग डरो मत, तुरंत अपनी आँखें मूँद लो । मैं अनायास ही तुमलोगोंकी रक्षा कर लूँगा ॥ २२ ॥

बद्धान्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र उलूखले ।

भीता सुदृक् पिघायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥ २३ ॥

इतनेमें एक गोपीने ब्रजेश्वरी श्रीयशोदाजीका भाव ग्रहण किया, दूसरी एक गोपी श्रीकृष्णके भावसे भावित हुई । यशोदा बनी गोपीने फूलोंकी मालासे श्रीकृष्ण बनी गोपीको ऊखलसे बाँधनेकी भाँति बाँध दिया । तब वह श्रीकृष्ण बनी हुई ब्रजसुन्दरी डरी हुई—सी अपने सुन्दर नेत्रोंवाले मुखको हाथोंसे ढँककर, जिस प्रकार श्रीकृष्ण यशोदा मैयाके द्वारा बाँधे जानेपर भयभीत हो गये थे, ठीक उसी प्रकार रुदन आदि भयकी चेष्टाओंका अनुकरण करने लगी ॥ २३ ॥

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ।

व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥ २४ ॥

इस प्रकार वृन्दावनके वृक्ष-लताओंसे श्रीकृष्णका पता पूछती हुई वे वनमें एक ऐसे स्थानपर पहुँची, जहाँ उन्हें अकस्मात् परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके चरणचिह्न दिखायी पड़े ॥ २४ ॥

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।

लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ॥ २५ ॥

चरणचिह्नोको देखकर वे परस्पर कहने लगीं—ये चरणचिह्न निश्चय ही महात्मा पुरुषोत्तम नन्दनन्दन श्रीश्यामसुन्दरके हैं; क्योंकि इनमें ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश, जौ आदिक चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ॥ २५ ॥

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽवलाः ।

वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन् ॥ २६ ॥

उन चरण-चिह्नोंके सहारे प्रियतम श्रीकृष्णको दूढ़ती हुई वे व्रजसुन्दरियाँ आगे बढ़ीं तो उन्हें सामने श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंके साथ ही किसी व्रजवधूके भी चरणचिह्न दिखायी दिये। उन्हें देखकर वे अत्यन्त पीड़ित हुई और परस्पर कहने लगीं - ॥ २६ ॥

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना ।

असन्धस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥

ओह ! जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराजके साथ जाती हो और गजराज उस हथिनीके कंधेपर अपनी सूंड रख दे और दोनों मिलकर चलें, वैसे ही अपने कंधेपर श्रीश्यामसुन्दरकी भुजाको धारण किये हुए उनके साथ-साथ चलनेवाली किस सौभाग्यवती व्रजसुन्दरीके ये दूसरे चरण चिह्न हैं ? ॥ २७ ॥

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।

यत्रो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ॥ २८ ॥

निश्चय ही यह हमलोगोंका मन हरण करनेवाले सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णकी आराधना करनेवाली—उन्से परम प्रेम करनेवाली आराधिका—(श्रीराधिका) होगी। उस परमप्रेमके फलस्वरूप ही इरापर रीझकर गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र इस बड़भागीनीको एकान्तमें ले गये हैं और हम लोगोंको वनमें छोड़ दिया है ॥ २८ ॥

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाख्यव्यञ्जरेणवः ।

यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥ २९ ॥

कुछ व्रजसुन्दरियाँ कह—प्रिय सखियों! अह! ये श्रीकृष्णचरणारविन्दोंके रजःकण धन्य हैं। ये अत्यन्त पवित्र हैं; क्योंकि श्रीकृष्णके गद-कमलोंसे

इनका स्पर्श हो चुका है। इसीलिये तो ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मी आदि भी अपने-अपने अशुभों—दुःखोंका नाश करनेके लिये इन्हें मस्तकपर धारण करते हैं। आओ, हम भी इन रजःकणोंको सिरपर चढ़ायें, ये रजःकण अवश्य ही हमारे श्रीकृष्णवियोगरूप अशुभको दूर कर देंगे ॥ २६ ॥

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।

यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥ ३० ॥

कुछ गोपियाँ बोलीं—सखियों ! यह तो ठीक है, परंतु वह जो सखी श्रीकृष्णको एकान्तमें ले जाकर हम सब गोपियोंकी सार-सर्वस्व वस्तु उनके मधुर अधरामृत-रसको हमसे छीनकर अकेली ही उसका पान कर रही है, उसके ये उभरे हुए चरणचिह्न हम सबके हृदयोंमें अत्यधिक जलन उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ३० ॥

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणांकुरैः ।

खिद्यत्सुजाताद्घितलामुग्निन्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥

कुछ आगे बढ़नेपर जब गोपियोंको उस गोपीके चरणचिह्न नहीं दिखलायी दिये, तब वे बोलीं—अरी सखियों ! देखो, यहाँ तो उस गोपीके चरण-चिह्न नहीं दिखायी पड़ रहे हैं। जान पड़ता है, प्यारे श्यामसुन्दरने देखा होगा कि हमारी प्रेयसीके सुकुमार तलवोंमें घासकी कठोर नोक गड़ रही है; इसलिये वे हो-न-हो उसको अपने कंधेपर चढ़ाकर ले गये होंगे ॥ ३१ ॥

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम् ।

गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ॥ ३२ ॥

उससे कुछ आगे बढ़नेपर उनमेंसे एकने कहा—अरी गोपियों ! देखो तो यहाँ श्रीकृष्णके चरणकमल पृथ्वीमें गहरे धँसे हुए दिखायी देते हैं। निश्चय ही वे प्रेमविह्वल श्यामसुन्दर उस गोपवधूको अपने कंधेपर चढ़ाकर ले गये हैं, उसीके भारसे उनके ये चरण जमीनमें धँस गये हैं ॥ ३२ ॥

अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना ।

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थं प्रेयसा कृतः ।

प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥ ३३ ॥

सखियों ! महात्मा (नित्य कामविजयी) श्यामसुन्दरने प्रेमवश यहाँ पुष्पचयन करनेके लिये अपनी प्रेयसीको कंधेसे नीचे उतार दिया है और उन परमप्रेमी ब्रजराजकुमारने अपनी प्रियाका शृंगार करनेके लिये उचक—उचककर पुष्पोंका चयन किया है, इससे उनके चरणोंके पंजोंके ही चिह्न पृथ्वीपर उभर पाये हैं। देखो तो यहाँ वे अधूरे चरणचिह्न दिखायी दे रहे हैं ॥ ३३ ॥

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।

तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥ ३४ ॥

देखो ! यहाँ उन प्रेमी श्रीश्यामसुन्दरने उस प्रेमिकाके केश सँवारे हैं और निश्चय ही यहाँ बैठकर उन्होंने अपने कर्-कमलोंद्वारा चुने हुए पुष्पोंद्वारा अपनी कान्ताको चूडामणिसे सजाया है ॥ ३४ ॥

रेमे तथा चात्नरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः ।

कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥ ३५ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित ! श्रीकृष्ण नित्य अपने स्वरूपमें ही संतुष्ट और पूर्ण हैं, वे नित्य—निरन्तर आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे अखण्ड हैं—उनके सिवा और कोई है ही नहीं; अतः कामिनियोंका कोई भी विलास उनको कभी अपनी ओर नहीं खींच सकता। इतनेपर भी वे कामियोंकी दीनता—स्त्रीपस्वशता और स्त्रियोंकी कुटिलता दिखलाते हुए उस ब्रजसुन्दरीके साथ एकान्तमें (अपने आत्माराम स्वरूपसे सर्वथा अच्युत तथा उसमें नित्यप्रतिष्ठित रहते हुए ही) विहार कर रहे थे ॥ ३५ ॥

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।

यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥ ३६ ॥

सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।

हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥ ३७ ॥

किंतु उन ब्रजसुन्दरियोंको कुछ पता नहीं था कि नन्दनन्दन कहाँ, किस स्थानपर है। वे गोपसुन्दरियों श्रीश्यामसुन्दरमें तन्मय होकर एक—दूसरीको श्रीश्यामसुन्दरके तथा उनकी प्रियाके चरणचिह्नको दिखलाती हुई उन्हें ढूँढनेके लिये व्याकुलहृदय होकर वन—वन भटक रही थीं। इस बीचमें उधर यह लीला हुई कि श्रीकृष्णचन्द्र दूसरी ब्रजवनिताओंको वनमें छोड़कर जिस भाग्यवती गोपीको एकान्तमें ले गये थे, उसके मनमें यह अभिमानका भाव आ गया कि मैं ही समस्त गोपियोंमें श्रेष्ठ हूँ। इसीलिये प्यारे श्यामसुन्दर सब गोपियोंको छोड़कर एकमात्र मुझको ही चाहते हैं और मुझको ही भज रहे हैं—मुझसे ही सुख प्राप्त कर रहे हैं ॥ ३६—३७ ॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् ।

न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार अभिमानका आविर्भाव होनेपर वह गोपी वनमें एक स्थानपर जाकर सौभाग्यमदसे मतवाली हो गयी और श्रीकृष्णसे—जो ब्रह्मा और शंकरके भी शासक हैं—कहने लगी—‘अब तो मुझसे चला नहीं जाता । मेरे कोमल चरण थक गये हैं, अतः तुम जहाँ चलना चाहो, मुझे अपने कंधेपर चढ़ाकर वहाँ ले चलो ॥ ३८ ॥

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति ।

ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥ ३९ ॥

अपनी प्रियतमाकी गर्वभरी वाणी सुनकर श्रीश्यामसुन्दरने उससे कहा—‘अच्छा प्रिये ! अब तुम मेरे कंधेपर चढ़ जाओ ।’ यह सुनकर ज्यों ही वह गोपी कंधेपर चढ़ने लगी, त्यों ही भगवान् अन्तर्धान हो गये; तब तो उन्हें न देखकर वह गोप—वधू अविरत रोने—कलपने लगी ॥ ३९ ॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ कासि कासि महाभुज ।

दास्यास्ते कृपणाय मे सखे दर्शय संनिधिम् ॥ ४० ॥

वह कातर कण्ठसे बोली—‘हा प्राणनाथ ! हा रमण ! हा प्रियतम ! हा महाबाहो ! तुम कहाँ हो, कहाँ हो ? हे मेरे प्राणसखा ! मैं तुम्हारी अत्यन्त दीन दासी हूँ । शीघ्र ही मुझे अपने सान्निध्यका दर्शन कराओ, मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दो ॥ ४० ॥

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः ।

ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥ ४१ ॥

परीक्षित ! इसी बीच भगवान् श्रीकृष्णके चरण—चिह्नोंके सहारे उनके जानेके मार्गको दूँढ़ती हुई गोपियों वहाँ आ पहुँचीं और उन्होंने बहुत ही समीप आकर देखा कि उनकी भाग्यवती सखी अपने प्रियतमके वियोगसे अत्यन्त दुःखी होकर मूर्च्छित पड़ी है ॥ ४१ ॥

तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।

अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः ॥ ४२ ॥

तब उन्होंने और भी समीप आकर प्रयत्न करके उसको मूर्च्छासे

जगाया। जागनेपर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके विरहमें कातर हुई उस गोपसुन्दरीने भगवान् माधवके द्वारा उसे जो प्रेम तथा सम्मान प्राप्त हुआ था, वह सुनाया तथा यह भी बतलाया कि फिर 'मैंने ही गर्वमें भरकर कुटिलतावश उनका अपमान किया, तब वे मुझे छोड़कर अन्तर्धान हो गये।' इन दोनों विचित्र घटनाओंको सुनकर गोपियोंको परम आश्चर्य हुआ ॥ ४२ ॥

ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते ।

तमःप्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वनमें जहाँतक चन्द्रमाकी किरणें छिटक रही थीं, वहाँतक तो वे समस्त ब्रजगोपियाँ श्यामसुन्दरको ढूँढ़ती हुई चली गयीं; परन्तु आगे जब उन्होंने अत्यन्त अन्धकारमय गहन वन देखा, तब यह सोचा कि यदि हम इस अन्धकारमें उन्हें ढूँढ़ती हुई चली जायँगी तो वे और भी घने अन्धकारमय वनमें जा छिपेंगे और हमें नहीं मिलेंगे, इसलिये वे उधरसे वापस चली आयीं ॥ ४३ ॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४४ ॥

उन सब गोपियोंका मन श्रीकृष्णचन्द्रके मनवाला हो रहा था, उनकी वाणी केवल श्रीकृष्णके लिये और श्रीकृष्णकी ही चर्चामें लगी हुई थी, उनके शरीरसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णकी ही थी। वे श्रीकृष्णमें ही सर्वथा घुल-मिल गयी थीं, श्रीकृष्णके गुणोंका ही गान कर रही थीं। वे इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने देह-गेहकी भी सुध नहीं थी, फिर घर-बारकी स्मृति तो होती ही कैसे ? ॥ ४४ ॥

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्ध्याः कृष्णभावनाः ।

समवेत्ता जगुः कृष्णं तदागमनकाक्षिताः ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्णके शीघ्र ही आगमनकी आकांक्षासे एकत्र होकर श्रीकृष्णकी भावनासे तन्मय हुई वे सब भाग्यवती ब्रजसुन्दरियाँ फिर श्रीयमुनाजीके पावन पुलिनपर लौट आयीं और वहाँ सब मिलकर प्रियतम श्रीकृष्णकी लीलाओंका मधुर गान करने लगीं ॥ ४५ ॥

तीसरा अध्याय

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना ब्रजः

श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।

दयित दृश्यतां दिक्षु तावका—

स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥ १ ॥

श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल वे प्रेममयी गोपियों गाने लगीं—'हे प्रियतम ! तुम्हारे प्रकट होनेके कारण इस ब्रजका गौरव वैकुण्ठ आदि दिव्य लोकोंसे भी अधिक हो गया है; तभी तो अखिल सौन्दर्य—माधुर्यकी दिव्य मूर्ति श्रीलक्ष्मीजी अपने नित्य निवास वैकुण्ठको छोड़कर इस ब्रजको सुशोभित करती हुई यहाँ निरन्तर निवास कर रही हैं। इस महान् सुखसे पूर्ण सौभाग्यमय ब्रजमें हम गोपियों ही ऐसी हैं, जो तुम्हारी होकर भी, तुममें अपने प्राणोंको पूर्णरूपसे समर्पण करके भी वन—वन भटककर सब ओर तुम्हें ढूँढ़ रही हैं, पर तुम मिल नहीं रहे हो। विरहज्वालासे जलती हुई भी इसी आशासे हम सर्वथा भस्म नहीं हो रही हैं कि तुम शीघ्र मिलोगे ! अतएव अब तुम तुरंत दीख जाओ ॥ १ ॥

शरदुदाशये साधुजातसत्—

सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।

सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका

वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥ २ ॥

हे हमारे रसेश्वर ! हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! हम तुम्हारी बिना मोलकी दासियों हैं। तुम शरद्व्रह्मदुके सरोवरमें खिले हुए उत्कृष्ट जातिके परमसुन्दर कमलकोशोंकी कर्णिकाकी सौन्दर्य—सुषमाको चुरानेवाले अपने नेत्रोंकी मारसे हमें मार चुके हो। इस जगत्में इस प्रकार नेत्रोंसे किसीको मार डालना क्या वध नहीं है ? ॥ २ ॥

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद्

वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।

वृषमयात्मजाद् विश्वतोभया—

दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! कालियहृदके विषमय जलपानके कारण होनेवाली मृत्युसे, अघासुरसे, इन्द्रकी वर्षा, आँधी अथवा तृणावर्त दैत्यसे तथा वज्रपातसे, भीषण दावानलसे, अरिष्टासुर और मयके पुत्र द्योमासुर आदिसे और इसी प्रकारके अनेक भयोंसे तुमने ही तो बार—बार हमारी रक्षा की थी ! फिर आज तुम्हीं अपनी विरहज्वालासे हमें क्यों भस्म कर रहे हो ? ॥ ३ ॥

न खलु गोपिकानन्दनो भवा—

नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये

सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥ ४ ॥

हम जानती हैं कि आप निश्चय ही केवल यशोदा मैयाके लाला ही नहीं हैं, अपितु समस्त प्राणियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं। ब्रह्माजीकी प्रार्थना सुनकर विश्वकी रक्षाके लिये ही आप यदुकुलमें आविर्भूत हुए हैं। इस प्रकार विश्वमरकी रक्षाके लिये अवतीर्ण होकर भी आप हमारे प्रति इतने निर्दय होकर हमें क्यों मार रहे हैं ? ॥ ४ ॥

विरचिताभयं वृष्णिघुर्य ते

चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।

करसरोरुहं कान्त कामदं

शिरसि घेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

हे यादवोंमें श्रेष्ठ ! संसारसे—जन्म—मरणके चक्रसे भयभीत होकर जो प्राणी तुम्हारे चरणोंकी शरणमें आ जाते हैं, तुम्हारे कर—कमल उनको अभय कर देते हैं। श्रीलक्ष्मीजीके कर—कमलको धारण करनेवाला तथा सबकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला वह अपना कर—कमल हमारे सिरपर रख दो—शीघ्र दर्शन देकर हमें भी अमय कर दो ॥ ५ ॥

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां

निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।

भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो

जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६ ॥

हे व्रजवासियोंके दुःखोंका नाश करनेवाले वीरशिरोमणि ! तुम्हारी

मधुर मन्द मुसकान तुम्हारे प्रेमीजनोंके गर्वका ध्वंस करनेवाली है। हे हमारे प्राणसखा ! हम सब तुम्हारी दासियाँ हैं, हमें अवश्य प्रेमदान दो और हम अबलाओंको अपना मनोहर मुखकमल दिखलाकर सुखी करो ॥ ६ ॥

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं
तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं
कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥ ७ ॥

तुम्हारे जो चरण—कमल शरणमें आये हुए मनुष्योंके समस्त पापोंको नष्ट कर डालते हैं, जो समस्त सौन्दर्यश्रीके धाम हैं—श्रीलक्ष्मीजीके परम आश्रयभूत हैं, जो घास चरनेवाले गौ—वत्सोंके पीछे—पीछे चलते हैं तथा जिन्होंने कालियनागके फणोंपर चढ़कर नृत्य किया था, उन अपने चरण—सरोजोंको हमारे वक्षःस्थलपर रख दो। हमारे हृदय तुम्हारे विरहकी ज्वालासे जल रहे हैं, इस प्रकार चरण—सरोजोंको रखकर उस जलनको मिटा दो ॥ ७ ॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया
बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती—
रधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥ ८ ॥

हे कमलनयन ! तुम्हारे वचन बड़े ही मधुर हैं, उनका एक—एक पद परम मनोहर है। बड़े—बड़े पण्डित भी उनके गाम्भीर्यपर मुग्ध हो जाते हैं। उन वचनोंसे हम सब गोपियाँ मोहित हो रही हैं। हम सभी तुम्हारे चरणोंकी किंकरियाँ हैं। हमारे प्राण निकले जा रहे हैं। हे दानवीर ! तुम अपनी दिव्य मधुर अधर—सुधा पिलाकर हम सबको आप्यायित करो और जीवनदान दो ॥ ८ ॥

तव कथाभूतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

हे प्राणेश्वर ! तुम्हारी लीला-कथा अमृतमयी है। वह जलते हुए प्राणियोंको जीवनदान करती है, बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी कवियोंने उसका गान तथा स्तवन किया है, उसके श्रवण-कीर्तनसे सब पापोंका नाश होता है। जो श्रवणमात्रसे ही प्रेमरूपी परम सम्पत्तिका दान करती है, ऐसी अत्यन्त विस्तृत कथाका पृथ्वीपर जो कीर्तन-गान करते हैं, वे जगत्में सबसे बड़े दानी लोग हैं। यह तुम्हारी लीला-कथाकी महिमा है। तुम्हारे दर्शनकी महिमा तो अवर्गनीय है ॥ ६ ॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं
विहरणं च ते ध्यानमंगलम् ।

रहसि संविदो या हृदिस्पृशः

कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥ १० ॥

हमारे प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम्हारे ध्यानमात्रसे ही परम आनन्द प्राप्त होता है। फिर हमें तो तुमने अपनी मधुर हँसी, प्रेमभरी दृष्टि तथा लीलाविहारका सुख प्रदान किया था; एकान्तमें हमारे साथ हृदयस्पर्शी विनोद तथा प्रेमभरी संकेत-वेष्टाएँ की थीं। अरे छलिया ! आज वे ही तुम हमलोगोंसे छिप गये हो। तुम्हारी वे सभी प्रेमभरी बातें इस समय याद आ रही हैं और हमारे मनको क्षुब्ध कर रही हैं ॥ १० ॥

चलसि यद् ब्रजाध्वारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।

शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः

कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥ ११ ॥

हमारे प्राणनाथ, जीवनसर्वस्व ! तुम्हारे चरण अरुणिमा, मृदुता तथा दिव्य सुगन्धमें कमलके समान अत्यन्त सुन्दर हैं; जिस समय तुम गौओंको चराते हुए ब्रजसे वनकी ओर आते हो, उस समय यह सोचकर कि तुम्हारे उन अत्यन्त मृदु चरण-कमलोंमें कुश, काँटे, अंकुर तथा कंकण आदि गड़ते होंगे और बड़ी पीड़ा होती होगी, हमलोगोंके मनमें बड़ी ही व्यथा होती है। यह दशा तो दिनमें वनगमनके समय होती है। इस रात्रिके समय तो उन मृदुल चरणोंमें विशेष पीड़ा हो रही होगी—इस चिन्तासे हमारे प्राण निकले जा रहे हैं। तुम तुरंत आकर उनकी रक्षा करो ॥ ११ ॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलै—

वनरुहाननं विश्रदावृतम् ।

घनरजस्वलं दर्शयन् मुहु

र्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥

हमारे हृदयोंको प्रेमबाणसे बीध देनेमें तुम बड़े ही शूरवीर हो। संध्याके समय जब तुम वनसे लौटते हो, तब हम देखती हैं कि तुम्हारे मुख—सरोजपर नीली घुँघराली अलकावली छायी हुई है और वह गोधूलिसे घूसरित हो रहा है। उस समय तुम अपनी उस मुख—माधुरीके हमें बार—बार दर्शन कराकर हमारे मनमें प्रेम—व्यथाका संचार कर देते हो। इस प्रकार नित्य ही तुम हमारे हृदयोंका प्रेमबाणसे बीधा करते हो; पर आज तो उसकी चरम सीमा हो गयी है—पहले तो हमें वेणुगान करके अपने पास बुलाया, हमारे साथ लीला—विहार किया और फिर यों छोड़कर चले गये ॥ १२ ॥

प्रणतकामदं पद्मजार्दितं

धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।

चरणपंकजं शंतमं च ते

रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

परंतु प्रियतम ! हमारे मनकी सारी व्यथाका हरण करनेवाले भी एकमात्र तुम्हीं हो। तुम्हारे चरण—कमल शरणमें आये हुए मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं। स्वयं ब्रह्माजी उनका नित्य पूजन करते हैं। विपत्तिके समय ध्यानमात्रसे ही वे स्मस्त विपत्तियोंका नाश कर देते हैं और पृथ्वीके तो वे भूषण ही हैं। उन अपने चरण—सरोजोंको, हे विहार—सुख देनेवाले प्रियतम ! हमारे वक्षस्थलपर रखकर हृदयकी सारी व्यथाका नाश कर दो ॥ १३ ॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं

स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।

इतररागविस्मारणं नृणां

वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥ १४ ॥

हृदयकी व्यथाका हरण करनेमें समर्थ वीरशिरोमणे ! तुम्हारी अधर—सुधा दिव्य सम्मोग—रसको बढ़ानेवाली है, सुन्दर स्वरोमें गान करनेवाली बाँसुरी उसे सदा भलीभाँति चूमती रहती है। जिसने एक क्षणके लिये एक बिन्दुमात्र

भी कभी उसका पान कर लिया, उसकी अन्य समस्त आसक्तियाँ तथा कामनाएँ सदाके लिये विस्मृत हो जाती हैं, ऐसी अपनी वह अधरसुधा हमलोगोंमें वितरण कर दो—हम सबको पिलाकर कृतार्थ करो ॥ १४ ॥

अटति यद् भवानडि काननं

व्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।

कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते

जड्जदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥ १५ ॥

प्रियतम ! दिनके समय जब तुम गौरों चरानेके लिये वनमें चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारा आधे क्षणका समय भी युग बन जाता है। फिर जब संध्याके समय तुम वनसे लौटते हो, तब तुम्हारे घुँघराले केशोंसे सुशोभित श्रीमुखका हम दर्शन करती हैं। उस समय पलकोंका गिरना हमें असह्य हो जाता है; क्योंकि उतने समयतक तुम्हारे दर्शनसे नेत्र वञ्चित रहते हैं। इसलिये हमें जान पड़ता है कि नेत्रोंपर पलकें बनानेवाला विधाता मूर्ख है ॥ १५ ॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा—

नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।

गतिविदस्सवोद्गीतमोहिताः

कितव योषितः कस्त्यजेत्रिशि ॥ १६ ॥

प्रियतम ! तुम कभी अपने प्रेममय स्वभावसे च्युत नहीं होते। तुम चतुर—शिरोमणि भलीभाँति जानते हो कि हम सब तुम्हारे मधुरतम मुरलीगानसे मोहित होकर अपने पति—पुत्र, भाई—बन्धु, कुल—परिजन—सबका त्याग करके उनकी इच्छाका अतिक्रमण करके तुम्हारे पास आयी हैं। फिर भी तुम हमें छोड़कर चले गये। अरे कपटी ! इस प्रकारकी घोर रात्रिके समय शरणमें आयी हुई तरुणियोंको तुम्हारे अतिरिक्त और कौन त्याग सकता है ॥ १६ ॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं

प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।

बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य घाम ते

मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥ १७ ॥

प्रियतम ! तुमने एकान्तमें हमसे प्रेमभरी बातें की हैं, तुम्हारा वह

प्रेमालाप, प्रेमकी कामनाको उद्दीप्त करनेवाला तुम्हारा मुसकाता हुआ मुख—कमल, तुम्हारी प्रेमभरी तिरछी चितवन, लक्ष्मीजीका नित्यनिवासघाम तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल—इन सभीको देखकर, इनका स्मरण करके हमारी तुमसे मिलनेकी लालसा अत्यन्त बढ़ गयी है और हमारा मन अधिकाधिक मुग्ध हो रहा है ॥ १४ ॥

व्रजवनीकसां व्यक्तिरंग ते
 वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमंगलम् ।
 त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां
 स्वजनहृदुजां यन्निषूदनम् ॥ १८ ॥

प्रियतम श्यामसुन्दर ! तुम्हारा यह व्रजमें अविर्भाव व्रजवासियोंके समस्त दुःखोंका नाश करने और विश्वका परम कल्याण करनेके लिये है। हमारे हृदयके समस्त मनोरथ एकमात्र तुम्हींमें केन्द्रित हो गये हैं, हम तुम्हारे सिवा और कुछ चाहती ही नहीं। हम तुम्हारी अपनी ही हैं; हमें अब थोड़ी—सी वह वस्तु दो, जो तुम्हारे निजजनोके हृदयसोर्गोको सर्वथा नष्ट कर दे ॥ १८ ॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
 भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
 तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
 कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥ १९ ॥

प्रियतम ! तुम्हारे चरणकमल अत्यन्त सुकुमार हैं, हम उन्हें अपने उरोजोंपर भी बहुत ही धीरेसे रखती हैं; हमें डर लगता रहता है कि हमारे कठोर चरोजोंसे उन कोमल पद—कमलोंको कहीं चोट न लग जाय। उन्हीं सुकुमार चरणोंसे आज हमसे छिपकर तुम वन—वन भटक रहे हो। कंकड़—पत्थरोंकी नोक लगकर उनमें बड़ी पीड़ा हो रही होगी। हमारी बुद्धि इसी चिन्तासे व्याकुल होकर चकर खा रही है। प्यारे ! हमारे जीवनके जीवन तो एकमात्र तुम्हीं हो ॥ १९ ॥

चौथा अध्याय

श्रीशुक उवाच

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।

रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—राजा परीक्षित ! भगवान् श्यामसुन्दरके विरहमें गोपियाँ इस प्रकार विविध भँतिसे गाती और प्रलाप करती हुई, प्राण-मनको सर्वथा आकर्षित कर लेनेवाले उन प्रियतमके दर्शनकी लालसा लिये हुए करुणापूर्ण मधुर स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ १ ॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।

पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥

उसी समय उनके बीचमें शूरसेनके वंशज भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनके मुख-सरोजपर मधुर मुसकान खेल रही थी, वे गलेमें वनमाला और शरीरपर पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका रूप-सौन्दर्य सबके मनको मथ डालनेवाले स्वयं कामदेवके मनको भी मथ डालनेवाला था ॥ २ ॥

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।

उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥ ३ ॥

उन सौन्दर्य-माधुर्य-निधि प्रियतम श्यामसुन्दरको अपने बीचमें आया देख गोपियोंके नेत्र प्रेमानन्दसे खिल उठे। ये गोपियाँ सब-की-सब एक साथ ही इस प्रकार उठ खड़ी हुईं, जैसे प्राणहीन शरीर प्राणोंके लौटते ही उठ खड़ा हो ॥ ३ ॥

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽज्जलिना मुदा ।

काचिददधार तद्बाहुमंसे चन्दनरुषितम् ॥ ४ ॥

उनमेंसे किसी गोपीने प्रमुदित होकर भगवान् श्यामसुन्दरके कर-कमलको अपने हाथोंमें ले लिया। किसीने उनकी चन्दनसे चर्चित भुजाको अपने कंधेपर रख लिया ॥ ४ ॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात् तन्वी ताम्बूलचर्कितम् ।

एका तदङ्घ्रिकमलं संतप्ता स्तनयोरधात् ॥ ५ ॥

किसी सुन्दरी गोपीने उनका चबाया हुआ पान अपने दोनों हाथोंमें ले लिया और एक गोपीने, जिसके हृदयमें विरहकी आग धधक रही थी, उसे शान्त करनेके लिये भगवान्‌के चरण—कमलको अपने वक्षःस्थलपर रख लिया ॥ ५ ॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।

घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः सदष्टदशनच्छदा ॥ ६ ॥

एक व्रजसुन्दरी प्रणयकोपसे विह्वल होकर, अपनी धनुषके समान टेढ़ी भौहोंको चढ़ाकर और दाँतोंसे होठ दबाकर अपने कटाक्षरूपी बाणोंसे वीधती हुई—सी उनकी ओर ताकने लगी ॥ ६ ॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।

आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥ ७ ॥

एक गोपी नेत्ररूपी प्यालोंसे श्रीकृष्णके मुख—कमल—मकरन्दका पान करके भी—भगवान्‌के सुन्दरवदन—सरोजको बार—बार देखकर भी फिर अपलक नेत्रोंसे वैसे ही अतृप्त होकर देखने लगी, जैसे शान्त एवं दासभक्त भगवान्‌के श्रीचरणोंका बार—बार दर्शन करनेपर भी तृप्त नहीं होते ओर उन्हें निरन्तर देखते ही रहना चाहते हैं ॥ ७ ॥

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।

पुलकांगयुपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ ८ ॥

कोई एक व्रजसुन्दरी नेत्रोंके मार्गसे श्यामसुन्दरको अपने हृदयमें ले गयी और फिर नेत्रोंको बंद करके भीतर—ही—भीतर उनको हृदयसे लगाकर वैसे ही परमानन्दमें निमग्न एवं रोमाञ्चित हो गयी, जैसे योगी अपने इष्ट परमात्माको ध्यानके द्वारा प्राप्तकर उसमें निमग्न हो जाते हैं ॥ ८ ॥

सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः ।

जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥ ९ ॥

जैसे मुमुक्षु साधक ब्रह्मको प्राप्त करके समस्त संसार—तापसे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही वे सब व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके मधुर दर्शनसे परम

उल्लास और दिव्य आनन्दको प्राप्त हो गयीं तथा उन्होंने विरहसे उत्पन्न संतापका सर्वथा परित्याग कर दिया ॥ ६ ॥

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।

व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥ १० ॥

अपने दिव्य-सौन्दर्य-माधुर्ययुक्त सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें नित्य स्थित, षडैश्वर्यसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण आज विरह-विषादसे मुक्त गोपियोंके बीचमें और भी विशेष सुशोभित होने लगे, जैसे परात्पर पुरुष परमात्मा प्रत्यक्षरूपमें अपनी ज्ञान, बल आदि शक्तियोंसे घिरकर सुशोभित होते हैं ॥ १० ॥

ताः समादाय कालिन्ध्या निर्विश्य पुलिनं विभुः ।

विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण उन समस्त गोप-ललनाओंको साथ लेकर यमुनाजीके पावन पुलिनपर आ विराजे। उस समय वहाँ खिले हुए कुन्द और मन्दारके पुष्पोंकी सुगन्धिको लिये वायु चल रही थी और उससे मतवाले हुए अमर सर्वत्र उड़ रहे थे ॥ ११ ॥

शरच्चन्द्रांशुसंदोहध्वस्तदोषातमः शिवम् ।

कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥ १२ ॥

शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी किरणें सब ओर छिटक रही थीं, इससे रात्रिका अन्धकार सर्वथा मिट गया था और सारा वातावरण मंगलमय हो रहा था। श्रीयमुनाजीने भगवान्की मधुरलीलाके लिये अपने तरंगरूपी हाथोंसे वहाँ सुकोमल वालुका बिछा रखी थी ॥ १२ ॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्भुजो

मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।

स्वैरुत्तरीयैः कुचकुंकुमांकितै-

रक्षीकलूपन्नासनमात्मबन्धवै ॥ १३ ॥

भगवान् श्यामसुन्दरके दर्शनसे उन गोपसुन्दरियोंको इतना महान् आनन्द हुआ कि उनके हृदयकी सारी व्यथा मिट गयी। वे गोपियों भगवान्को पाकर उसी प्रकार पूर्णकाम हो गयीं, जिस प्रकार श्रुतियों कर्मकाण्डके

वर्णनके अनन्तर ज्ञानकाण्डका प्रतिपादन करके पूर्णकाम हो जाती हैं। अब उन्होंने वक्रस्थलपर लगी हुई केशरसे चिह्नित अपनी ओढ़नीको अपने परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके विसाजनेके लिये वहाँ बिछा दिया ॥ १३ ॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।

चकास गोपीपरिषद्गतोर्चित-

स्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥ १४ ॥

बड़े-बड़े योगेश्वर अपने विशुद्ध हृदय-कमलमें जिन भगवान्के आसनकी कल्पना किया करते हैं, पर बैठा नहीं पाते, वे ही सर्वसमर्थ सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण यमुना-तटकी वालुकामें गोपियोंकी ओढ़नीपर बैठ गये। गोपियोंने उन्हें सब ओरसे घेर लिया और उनकी पूजा करने लगीं। त्रिलोकीकी समस्त सौन्दर्य-शोभाके जो एकमात्र परम आश्रय हैं, ऐसे अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्यमय दिव्य विग्रहको धारण किये उस समय वे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ १४ ॥

सभाजयित्वा तमनंगदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।

संस्पर्शनेनांककृताङ्गिहस्तयोः

संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी सौन्दर्य-सुधा पिलाकर जिनके मनमें विशुद्ध काम-भगवत्प्रेमको उद्दीप्त कर दिया था, वे गोपियाँ अपनी मधुर मुसकान, विलासपूर्ण कटाक्ष तथा भौंहोंकी मटकसे एवं अपनी गोदमें रखे हुए भगवान्के घरण-कमलों और कर-कमलोंको सहलाकर उनका सम्मान करती हुई अमनन्दातिरेकसे उनके रूप-गुणोंकी प्रशंसा करने लगीं। फिर उनके अन्तर्धान होनेकी बात याद आते ही किञ्चित् प्रणय-कोप दिखाती हुई वे बोलीं ॥ १५ ॥

गोष्य लुचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।

नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु मोः ॥ १६ ॥

गोपियोंने कहा—कुछ लोग तो प्रेम करनेवालोंसे ही बदलेमें प्रेम करते हैं; कुछ लोग इसके विपरीत, प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालों तथा न करनेवाले—दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। प्रियतम ! इन तीनोंके विषयमें हमें समझाकर बतलाओ। यह बतलाओ कि तुम इनमेंसे किसको अच्छा समझते हो और तुम कौन—से हो ? ॥ १६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थकान्तोद्यमा हि ते ।

न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥ १७ ॥

इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय सखियों ! जो लोग प्रेम करनेपर ही बदलेमें प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्यम केवल स्वार्थके लिये ही है। उनमें न तो सौहार्द है और न धर्म या कर्तव्यका भाव ही है। उनकी तो वह प्रेम—चेष्टा केवल स्वार्थके हेतुसे ही होती है, उनका और कोई प्रयोजन नहीं होता ॥ १७ ॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा ।

धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥ १८ ॥

सुन्दरियों ! जो लोग प्रेम न करनेवालोंसे प्रेम करते हैं, जैसे स्वभावसे ही करुणहृदय पुरुष एवं माता—पिता प्रेम करते हैं, उनके इस बर्तावमें कोई दोष नहीं होता, और पूर्ण धर्म तथा सौहार्द ही भरा रहता है ॥ १८ ॥

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः ।

आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ १९ ॥

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते, फिर प्रेम न करनेवालोंसे प्रेम करनेकी बात ही क्या है। ऐसे लोग चार प्रकारके होते हैं—एक तो वे, जो नित्य आत्मस्वरूपमें ही रमण करते हैं; दूसरे वे, जिनकी सब कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं; तीसरे वे, जो कृतघ्न हैं, किये गये उपकार तथा प्रेमका स्मरण भी नहीं करते; और चौथे वे, जो अपना सहज हित करनेवाले गुरुजनोंसे भी द्रोह करते हैं ॥ १९ ॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्

भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।

यथाघ्नो लब्धघने विनष्टे

तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥ २० ॥

सखियों ! यदि तुम मेरी बात जानना चाहती हो तो मैं तो प्रेम करनेवाले प्राणियोंसे भी वैसा प्रेम नहीं करता, उनकी चित्तवृत्ति निरन्तर मुझमें लगी रहे, इसलिये कभी—कभी उनसे उदासीन—सा हो जाता हूँ। जैसे निर्धन मनुष्यको कभी बहुत—सा धन मिल जाय और फिर वह खो जाय तो उसके हृदयमें खोये हुए धनकी ही चिन्ता छापी रहती है, वह दूसरी वस्तुका स्मरण ही नहीं करता, इसी प्रकार मैं भी मिल—मिलकर छिप जाया करता हूँ जिससे मेरा चिन्तन नित्य—निरन्तर बना रहे ॥ २० ॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद—

स्वानां हि वो मय्यनुकृतयेऽबलाः ।

मया परोक्षं भजता तिरोहितं

मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥ २१ ॥

गोपललनाओ ! तुमलोगोंने मेरे लिये सारी लोक—मर्यादा, वेदमार्ग और आत्मीय स्वजनौका भी परित्याग कर दिया। इस स्थितिमें तुम्हारी मनोवृत्ति मेरे द्वारा प्राप्त होनेवाले किसी सुखमें लगकर मुझे छोड़ न दे, केवल मुझमें ही लगी रहे, इसीलिये ही मैं तुमलोगोंसे दृष्टि बचाकर तुम्हारे प्रेमरसका पान करता हुआ ही यहाँ छिप रहा था। मेरी गोपियों ! तुम मेरी अत्यन्त प्रिया हो और मैं तुम्हारा परम प्रियतम हूँ अतः तुमलोग मुझमें दोष मत देखो ॥ २१ ॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां

स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।

या मा भजन् दुर्जरगोहशृङ्खलाः

संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥ २२ ॥

प्रियाओ ! प्रयत्न करनेवाले साधकोंसे भी जो घर—गृहस्थीकी बेड़ियाँ नहीं टूटती, तुमने उनके भलीभाँति तोड़कर मुझसे यथार्थ प्रेम किया है। मेरे साथ तुम्हारा यह मिलन सर्वथा निर्दोष—निज सुखके इच्छालेशसे भी रहित परम पवित्र है। तुमलोगोंने केवल मुझको सुख देनेके लिये ही इतना त्याग किया है। मेरे प्रति किये जानेवाले तुम्हारे इस प्रेम, सेवा और उपकारका बदला मैं देवताओंकी लंबी आयुमें भी सेवा करके नहीं चुका सकता। तुम अपनी साधुता, सौजन्यसे ही चाहो तो मुझे उद्धारण कर सकती हो। मैं तो तुम्हारा ऋण चुकानेमें सर्वथा असमर्थ हूँ ॥ २२ ॥

पाँचवाँ अध्याय

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।

जुहुर्विरहजं तापं तदंगोपचिताशिषः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित् । इस प्रकार गोपियों प्रेमसमुद्र भगवान्की सुमधुर वाणी सुनकर और उन शौन्धुर्य-माधुर्य निधि प्रियतमके अंग-सागसे पूर्णकाम होकर उनके विश्वजनित संतापसे मुक्त हो गयीं ॥ १ ॥

तत्रारभत गाविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।

स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥ २ ॥

तदनन्तर यनुनातत्पर भगवान् श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार चलनेवाली उनकी परम प्रेयसी गोपियों एक दूसरेकी बाँहमें बाँह डालकर खड़ी हो गयीं और भगवान् श्रीकृष्णने उन स्त्रीरत्नोंके साथ मिलकर परम रसमयी रासलीला आरम्भ की ॥ २ ॥

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।

योगेश्वरेण कृष्णो न तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥

यं मन्वेरन् नभस्तावद् विमानशतसंकुलम् ।

दिवीकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥

योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण दो-दो गोपियोंके बीचमें अनेक रूपमें प्रकट होकर, उनके गलेमें बाँह डालकर खड़े हो गये । अब सहस्रों गोपियोंके बीच-बीचमें शोभायमान श्रीभगवान्ने दिव्य रासोत्सव प्रारम्भ किया । प्रत्येक गोपी यही समझ रही थी कि मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण तो मेरे ही पार्श्वमें स्थित हैं । भगवान्के द्वारा प्रारम्भ किये गये उस रसमय रासोत्सवको देखनेकी उत्सुकतासे जिनका मन अपने वशमें नहीं रह गया था, वे सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आ पहुँचे । सारा आकाश देवताओंके विमानोंसे भर गया ॥ ३-४ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।

जगुर्गन्धर्वपतयः सखीकास्तद्यशोऽमलम् ॥ ५ ॥

उस समय स्वर्गकी दुन्दुभियों बजने लगी, दिव्य पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी और गन्धर्वोंके स्वामी अपनी-अपनी पत्नियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका निर्मल यशोगान करने लगे ॥ ५ ॥

वलयाणां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम् ।

सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥ ६ ॥

रासमण्डलमें सभी गोपियों अपने प्रियतम श्रीकृष्णके साथ नृत्य करने लगीं । उस समय वहाँ भी उन सहस्रों गोपियोंके हाथोंके कंकण, पैरोंकी पायजेब तथा कटिकी कस्धनियों बजने लगीं, जिनकी मिश्रित मधुर ध्वनि सर्वत्र छा गयी ॥ ६ ॥

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।

मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥

उस रासमण्डलमें ब्रजसुन्दरियोंके साथ बड़ेस्वर्यसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे, जैसे स्वर्णमयी मणियोंके बीचमें प्रभामयी नीलमणि सुशोभित हो ॥ ७ ॥

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूलिलासै-

र्भज्यन्मध्येश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्धयः कृष्णवध्वो

गायन्त्यस्तं तद्धित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णकी परम प्रेयसी गोपसुन्दरियों अति मधुर स्वरसे प्रियतमकी मधुर लीलाओंका गान करती हुई नृत्य कर रही थीं । उस समय, वे मस्तककी वेणी और कमरके लहँगेकी डोरीको कसकर बाँधे हुए भौंति-भौंतिसे पैरोंको नचा रही थीं, चरणोंकी गतिके अनुसार भुजाओंसे कलापूर्ण भाव प्रकट कर रही थीं, मंद-मंद मुसकरा रही थीं और मौहोंको मटका रही थीं । नाचनेमें कभी-कभी पतली कमर लचक जाती थी, उनके स्तनोंके वस्त्र उड़े जा रहे थे, कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर अपनी प्रभासे उनके कपोलोंको और भी

चमका रहे थे। नाचनेके श्रमसे उनके मुखोंपर पसीनेकी बूँदें डालक रही थीं। उस समय वे ब्रजसुन्दरियाँ ऐसी असीम शोभा पा रही थीं मानो नील बादलोंके बीच-बीचमें स्वर्णवर्णा बिजलियाँ चमक रही हों ॥ ८ ॥

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।

कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्वीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णके साथ क्रीडामें आसक्त वे सुन्दर कण्ठवाली ब्रजरमणियाँ भगवान् श्रीकृष्णका संस्पर्श प्राप्तकर आनन्दमग्न हो रही थीं। वे नाचती हुई ऊँचे स्वरसे परम मधुर गान कर रही थीं। उनकी संगीत-ध्वनिसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा था ॥ ९ ॥

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।

उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ।

तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बहदात् ॥ १० ॥

कोई गोपी भगवान् श्रीकृष्णके स्वरकी अपेक्षा भी विलक्षण ऊँचे स्वरसे गाने लगी। उसके विलक्षण मधुर गानको सुनकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और 'बहुत अच्छा' 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी प्रशंसा करने लगे। उसी रागको एक दूसरी गोपीने ध्रुपद तालमें उठाकर गाया और भगवान् ने उसको भी बड़ा आदर दिया ॥ १० ॥

काचिदासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।

जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥ ११ ॥

कोई एक सखी रासमें प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके साथ नृत्य करते-करते थक गयी। उसके हाथोंके कंगन तथा वेणियोंमें बँधे हुए बेलके पुष्प खिसकने लगे। तब वह अपने पार्श्वमें ही स्थित श्यामसुन्दरके कंधेको पकड़कर उसके सहारे खड़ी हो गयी ॥ ११ ॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।

चन्दनालिप्तमाघ्राय दृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥

वहाँ एक गोपीने श्रीकृष्णका कोमल कर-कमल अपने कंधेपर रख लिया। भगवान् के उस हाथसे स्वाभाविक ही कमल-सी दिव्य सुगन्ध आ रही

थी और उसपर अत्यन्त सुगन्धित चन्दन लगा हुआ था। भगवान्‌के भुजस्पर्श और उनके दिव्य अंग-गन्धसे उस गोपीके आनन्दसे रोमाञ्च हो आया और उसने झट भगवान्‌के हाथको चूम लिया ॥ १२ ॥

कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।

गण्डं गण्डे संदधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥ १३ ॥

एक दूसरी गोपी रासमें नाच रही थी, इससे उसके कानोंके कुण्डल हिल रहे थे और उन कुण्डलोंकी झलक उसके कपोलोंपर चमक रही थी। उस गोपीने अपने कपोलको भगवान्‌के कपोलसे सटा दिया। तब भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे अपना चबाया हुआ पान उसके मुखमें दे दिया ॥ १३ ॥

नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।

पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताघात् स्तनयोः शिवम् ॥ १४ ॥

कोई एक गोपी अपने पैरोंकी पाजेब तथा कर्धनीके घुँघुराओंको मधुरस्वरसे झनकारती हुई नाच-गा रही थी। वह जब थक गयी और उसका हृदय धड़कने लगा, तब उसने अपने बगलमें ही खड़े हुए श्यामसुन्दरके शीतल सुकोमल कर-कमलको अपने दोनों स्तनोंपर रख लिया ॥ १४ ॥

गोप्यो लब्धाच्युतं कान्तं प्रिय एकान्तवल्लभम् ।

गृहीतकण्ठ्यस्तदोभ्यां गायन्त्यस्तं विजहिरे ॥ १५ ॥

साक्षात् श्रीलक्ष्मीजीके एकमात्र परम प्रियतम तथा सदा अपने तत्त्व स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित भगवान् श्रीकृष्णको अपने कान्त—हृदयेश्वरके रूपमें प्राप्त कर गोपसुन्दरियाँ उनके गलोंमें अपनी भुजाएँ डालकर उन प्रियतमकी प्रेमलीलाका गान करती हुई उनके साथ विहार करने लगीं ॥ १५ ॥

कर्णोत्पलालकविटंककपोलधर्म-

वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।

गोप्यः समं भगवता ननूतु स्वकेश-

अस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ १६ ॥

उन गोपसुन्दरियोंके कानोंमें कमल पुष्प सुशोभित थे। घुँघुराली लट्टे गलोंको विमूषित कर रही थीं। पसीनेकी बूँदोंसे उनके मुख-सरोजोंकी अपूर्व

शोभा हो रही थी। वे रासमण्डलमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ नृत्य कर रही थीं। उस नृत्यके साथ उनके हाथोंके कंगन और पैरोंकी पाजेबोंके बाजे बज रहे थे और भ्रमरोंके दल सुरमें सुर मिलाकर गान कर रहे थे। उस समय उनकी वेणियोंमें गुँथे हुए पुष्प खिसक-खिसककर गिरे जा रहे थे।। १६।।

एवं परिष्वंगकराभिमर्शस्निग्धे—

क्षणोद्दामविलासहासैः ।

रमे रमेशो ब्रजसुन्दरी—

भिर्यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ।। १७।।

जैसे छोटा-सा शिशु निर्विकारभावसे अपनी परछाईके साथ खेलता है, वैसे ही रमानाथ भगवान् श्रीकृष्ण कभी उन गोपियोंका आलिंगन करते, कभी हाथोंसे उनका अंगस्पर्श करते, कभी प्रेमभरी तिरछी चितवनसे उनकी ओर निहारते और कभी विलासपूर्ण रीतिसे खिलखिलाकर हँस पड़ते। इस प्रकार उन्होंने उन निजस्वरूपभूता ब्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया। (वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्णकी यह स्वरूपभूता लीला थी। गोपियों तत्त्वतः श्रीकृष्णसे अभिन्न थीं; पर जैसे बालक अपना मुख स्वयं न देख पानेके कारण उसके साथ खेल नहीं सकता, परंतु दर्पणादिमें अपनी परछाई देखकर विचित्र भाव-भंगिमाओंसे उसके साथ खेलकर आनन्दका अनुभव करता है, वैसे ही श्रीभगवान् भी अपने साथ आप क्रीड़ा नहीं कर सकते। इसीलिये वे अपनी ही परछाईरूपा ह्लादिनीशक्तिकी विकसित मूर्तियोंश्रीब्रजसुन्दरियोंके साथ विविध विलास करके निर्मल दिव्य रसानन्दका अनुभव करते हैं। अपने अलौकिक अनुपमेय प्रतिक्षणवर्धमान सौन्दर्य-माधुर्य-सुधारसका अनुभव करनेके लिये ही वे निजस्वरूपा ब्रजसुन्दरियोंके साथ लीला करके उसका रसास्वादन करते हैं।। १७।।

तदंगसंगप्रमुदाकुलेन्द्रियाः

केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।

नाञ्जः प्रतिव्योद्गमलं ब्रजस्त्रियो

विभ्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह ।। १८।।

परीक्षित् ! प्रियतम भगवान्के अंगोंका संस्पर्श पाकर गोपियोंकी इन्द्रियाँ प्रेमानन्दसे विह्वल हो गयीं। उनके कण्ठोंमें पड़े हुए पुष्पहार टूट गये।

उनके आभूषण अस्त-व्यस्त हो गये। सजाये हुए केश बिखर गये। वे अपनी ओढ़नी तथा चोलीको भी जल्दीसे सँभालनेमें असमर्थ हो गयीं ॥ १८ ॥

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः।

कामार्दिताः शशांकश्च सगणो विस्मितोऽभदत् ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी इस प्रेममयी रासक्रीडाको देखकर आकाशमें विमानोंमें बैठी देवांगनाएँ भी मिलनकी इच्छासे मोहित हो गयीं और चन्द्रमा अपने गणों—नक्षत्रों तथा तारोंके साथ आश्चर्यचकित हो गया ॥ १९ ॥

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥ २० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, नित्य स्वभावसे आत्मस्वरूपमें ही रमण करते हैं। फिर भी उन्होंने, जितनी गोपरभणियाँ थीं, उतने ही रूपोंमें अपनेको प्रकट करके अपनी लीलासे ही—किसी कामना—वासनासे नहीं—उनके साथ रमण किया ॥ २० ॥

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।

प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शंतमेनांग पाणिना ॥ २१ ॥

प्रिय परीक्षित् ! यों बहुत देरतक नृत्य, गान, विहार आदि करनेके कारण अत्यधिक श्रमसे जब सारी गोपियाँ थक गयीं, तब करुणामय भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं परम शान्तिदायक कौमल कर—कमलों द्वारा बड़े ही प्रेमसे उनके मुख—कमलोंको पोंछ दिया ॥ २१ ॥

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विङ्-

गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन।

मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि

पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २२ ॥

भगवान् श्यामसुन्दरके कर—कमलों और नखोंके स्पर्शसे गोपियाँ प्रमुदित हो गयीं। उन्होंने अपने कपोलोंकी सुन्दरतासे, जिनपर झिलमिलाते हुए सुवर्णमय कुण्डलोंकी आभा छिटक रही थी तथा घुँघराले केशोंकी लटें लहरा रही थीं, एवं अपनी सुधामयी मधुर मुसकानसे युक्त प्रेममयी चितवनसे

उन पुरुषोत्तम भगवान्का सम्मान किया और फिर वे उनकी परमपवित्र प्रेमसुधामयी लीलाओंका गान करने लगीं ॥ २२ ॥

ताभिर्युतः श्रममपोहितुमंगसंग—

घृष्टस्रजः स कुचकुंकुमरञ्जितायाः ।

गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद वाः

श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २३ ॥

तदनन्तर जैसे विलास-क्रियासे थका हुआ गजराज बाँधको तोड़ता हुआ हथिनियोंके साथ जलमें प्रवेश करके विविध प्रकारसे क्रीड़ा करता है, वैसे ही थके हुए भगवान् श्रीकृष्ण लोक और वेदकी मर्यादाको भंग करके अपनी थकान दूर करनेके लिये उन गोप-सुन्दरियोंको लेकर श्रीयमुनाजीके जलमें घुस गये। उस समय भगवान्के गलेकी उस वनमालासे, जो गोप-सुन्दरियोंके अंगोंकी रगड़से कुछ मसली गयी थी और जो उनके कक्ष-स्थलके केसरसे केसरी रंगकी हो रही थी, खिंचकर भ्रमरोंके दल-के-दल उनके पीछे-पीछे मधुर गुंजार करते हुए उड़े आ रहे थे, मानो गन्धर्वगण उनकी लीलाओंका सुमधुर गान करते हुए पीछे-पीछे चल रहे हों ॥ २३ ॥

सोऽम्मस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः

प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरिस्तस्ततोऽंग ।

वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो

रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥ २४ ॥

परीक्षित ! यमुनाजीके जलमें वे व्रजतरुणियों प्रेममयी चितवनसे श्रीकृष्णकी ओर देखती हुई तथा खिलखिलाकर हँसती हुई उनपर चारों ओरसे खूब जल उलीचने लगीं। इस दृश्यको देखकर चिमानपर बैठे हुए देवता पून बरसाकर उनकी स्तुति करने लगे। इस प्रकार अपने-आपमें ही नित्य रमण करनेवाले भगवान् स्वयं गजराजकी भाँति यमुनाजलमें गोपगानाओंके साथ जल-विहारकी लीला करने लगे ॥ २४ ॥

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल—

प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्कटे ।

चचार भृंगप्रमदागणावृतो

यथा भवच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥ २५ ॥

इसके पश्चात् यमुनाजीसे निकलकर भ्रमरों तथा व्रजयुवतियोंसे घिरे हुए भगवान् उस रमणीय उपवनमें गये, जहाँ सब ओर जल और स्थलमें सुन्दर सुगन्धयुक्त पुष्प खिले हुए थे और उनकी सुगन्धका प्रसार करती हुई मन्द मनोहर वायु चल रही थी। उस उपवनमें भगवान् उसी प्रकार विचरने लगे, जैसे मद चुवाता हुआ गजराज हथिनियोंके साथ घूम रहा हो ॥ २५ ॥

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः

स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।

सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः

सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥ २६ ॥

शरदकी वह रात्रि अनेक रात्रियोंसे समन्वित होकर बड़ी ही शोभा पा रही थी। चन्द्रमाकी किरण—ज्योत्स्ना सब ओर छिटक रही थी। काव्योंमें शरत्कालकी जिन रस—सामग्रियोंका विवेचन किया गया है, वे सम्पूर्ण उसमें विद्यमान थीं। उस रात्रिमें सत्यसंकल्प भगवान् श्यामसुन्दरने अपनी परमप्रेयसी निजस्वरूपा चिन्मयी गोपरमणियोंके साथ चिन्मय लीला—विहार किया। भगवान्की सत्तासे ही कामदेवमें सत्ता आती है, इसलिये कामदेवका उनपर कोई भी बश नहीं चल सकता। अतएव वह यहाँ भी सर्वदः पराजित रहा। भगवान् सर्वथा अस्खलितवीर्य बने रहे ॥ २६ ॥

राजोवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।

अवतीर्णा हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २७ ॥

स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।

प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदारामिमर्शनम् ॥ २८ ॥

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।

किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥ २९ ॥

इसी बीचमें राजा परीक्षित् भगवान्की चिन्मयी लीलाका रहस्य पूरी तरहसे न समझनेके कारण लौकिकभावसे शंका करते हुए श्रीशुकदेवजीसे प्रश्न कर बैठे। उन्होंने कहा—

भगवन् ! भगवान् श्रीकृष्ण तो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं, उन्होंने अपने अंश श्रीबलरामजीके साथ धर्मकी स्थापना और अधर्मके विनाशके

लिये ही परिपूर्णरूपमें अवतार ग्रहण किया था। ब्रह्मन् ! वे स्वयं धर्म—मर्यादाओंकी रचना करनेवाले, उनकी रक्षा करनेवाले तथा उपदेशक थे। फिर, उन भगवान् ने स्वयं धर्मके विपरीत परस्त्रियोंका अंगस्पर्श कैसे और क्यों किया ? भगवान् श्रीकृष्ण तो नित्य पूर्णकाम हैं, उनके मनमें कभी कोई कामना जागती ही नहीं, फिर यादवेन्द्र भगवान् ने किस अभिप्रायसे ऐसा निन्दनीय कर्म किया ? उत्तम निष्ठावाले श्रीशुकदेवजी ! आप कृपापूर्वक मेरे इस संदेहको दूर कीजिये ॥ २७—२६ ॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।

तेजीयसां न दोषाय बद्धेः सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥

परीक्षितके इस संदेहयुक्त प्रश्नसे विरक्तशिरोमणि शुकदेवजीके द्वारा प्रवाहित लीलारसका प्रवाह रुक गया और वे परीक्षितका संदेह दूर करनेके लिये लौकिक युक्तिपूर्ण वचन बोले—

श्रीशुकदेवजीने कहा—परीक्षित ! कर्मकी अधीनतासे मुक्त ईश्वरकोटिके समर्थ महान् तेजस्वी देवताओंद्वारा कभी—कभी धर्मका उल्लंघन तथा ऐसे परम साहसके कार्य होते देखे जाते हैं। परन्तु उन कार्योंसे उन तेजस्वी देवताओंका कोई दोष नहीं माना जाता। जैसे अग्नि शवदेहादिपर्यन्त सब कुछ खा जाता है, परन्तु उसके उस कार्यको कोई भी दोषयुक्त नहीं मानता ॥ ३० ॥

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।

विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽधिजं विषम् ॥ ३१ ॥

परन्तु जो अनीश्वर हैं, समर्थ नहीं हैं, अजितेन्द्रिय तथा देहाभिमानी हैं, उन्हें, शरीरसे तो दूर रहा, कभी मनसे भी ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। यदि कोई मूर्खतावश ईश्वरकी इस लीलाका अनुकरण करके इस प्रकारका आचरण कर बैठेगा तो वह नष्ट—पतित हो जायगा। भगवान् शिवजीने समुद्रसे उत्पन्न हलाहल विष पी लिया था; पर उनकी देखा—देखी दूसरा कोई पीयेगा तो वह निश्चय ही जलकर भस्म हो जायगा ॥ ३१ ॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।

तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमास्तत्समाचरेत् ॥ ३२ ॥

इसलिये श्रीशंकरके सदृश समर्थ देवताओंके वचनोंका ही अधिकारानुसार यथार्थरूपसे पालन करना चाहिये, उनके स्वच्छन्द आचरणोंका नहीं। कहीं-कहीं उनके आचरणोंका भी अनुकरण किया जा सकता है, परंतु बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि उनके उसी आचरणका अनुकरण करे, जो उनके उपदेशके सर्वथा अनुकूल हो ॥ ३२ ॥

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न दिद्यते ।

विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥

राजा परीक्षित् ! इस संसारमें ऐसे समर्थ ईश्वर सर्वथा अहंकारशून्य होते हैं। शुभ कर्म करनेसे उनका कोई स्वार्थसाधन—लाभ नहीं होता और उसके विपरीत लोक दृष्टिमें अशुभ कर्मसे उनकी कोई हानि नहीं होती। वे स्वार्थ या अनर्थ अर्थात् लाभ—हानि और शुभ—अशुभसे ऊपर उठे होते हैं ॥ ३३ ॥

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।

ईशितुरचेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥

यह तो ईश्वरकोटिके समर्थ देवताओं तथा पुरुषोंकी बात है। भगवान् श्रीकृष्ण तो पशु—पक्षी, कीट—पतंग, मनुष्य—देवता आदि समस्त चराचर जीवोंके एकमात्र नियन्ता—शासक प्रभु, सर्वलोकमहेश्वर हैं। उनके साथ किसी लौकिक शुभ और अशुभसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है ॥ ३४ ॥

यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता

योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।

स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना—

स्तस्यैकस्याऽऽतवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३५ ॥

जिनके चरण—कमलोंकी रजका सेवन करके भक्तजन पूर्णकाम हो जाते हैं, जिनके साथ मनका योग हो जानेके प्रभावसे योगी मुनिजनोंके समस्त कर्मबन्धन कट जाते हैं, वे किसी भी विधि—निषेधको न मानकर स्वेच्छानुसार नियन्त्रणरहित स्वच्छन्द आचरण करते हुए भी बन्धनसे सर्वथा मुक्त रहते हैं, वे ही साक्षात् भगवान्, जो कर्मबन्धनसे पाञ्चभौतिक देहको

प्राप्त न होकर अपनी लीलारो ही सच्चिदानन्दमय विग्रहरूपमें प्रकट हुए हैं, उन कर्तु-अकर्तु-अन्यथा कर्तु समर्थ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्में किसी प्रकारके कर्मबन्धनकी कल्पना ही कैरो हो सकती है ? ॥ ३५ ॥

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।

योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥ ३६ ॥

जो भगवान् गोपियोंके, उनके पतियोंके तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे विहार करते हैं, वे सबके साक्षी परमपति परमेश्वर ही दिव्य त्रिन्मय देह धारण करके यहाँ लीला कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

अनुग्रहाय भूतानां भानुषं देहमास्थितः ।

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ ३७ ॥

जीवोपर कृपा करनेके लिये ही भगवान् अपने सच्चिदानन्दघनस्वरूपको मनुष्यदेहके रूपमें प्रकट करके वैसी ही लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर मनुष्य उन भगवान्के परायण हो जाता है। अतएव भगवान्की इस दिव्य भावमयी लीलामें तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य भायया ।

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दासन् ब्रजैकसः ॥ ३८ ॥

यह भावमयी दिव्य लीला थी, जिसके कारण ब्रजवासी गोपोंने भगवान्की योगमायासे मोहित होकर ऐसा अनुभव किया कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही सोयी हैं और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके प्रति तनिक भी दोषदृष्टि नहीं की ॥ ३८ ॥

ब्रह्मरात्रं उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।

अनिच्छन्त्यो ययुर्गायः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥ ३९ ॥

फिर जब ब्रह्ममुहूर्त आ गया, तब भगवान्की अत्यन्त प्यारी वे गोपसुन्दरियों अपने-अपने घरोंको लौट गयीं। यद्यपि उनकी लौटकर जानेकी तनिक भी इच्छा नहीं थी, तथापि वे अपनी प्रत्येक क्रियासे भगवान् श्रीकृष्णको ही सुखी करना चाहती थीं, उनमें श्रीकृष्ण-सुखसे पृथक् किसी निज-सुखकी कामना तो थी नहीं, इसलिये वे भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा होते ही चली गयीं ॥ ३९ ॥

विक्रीडितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्गोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ ४० ॥

जो धीर पुरुष ब्रजललनाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी इस दिव्य भावमय चिन्मय रासक्रीडाका श्रद्धाके साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करेगा, वह शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णकी पराभक्तिको—सर्वश्रेष्ठ प्रेमस्वरूपा भक्तिको प्राप्त हो जायगा तथा तुरन्त हृदयके विकाररूप लौकिक कामसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ॥ ४० ॥



रासलीला (पदोभे)

थीं वे विकसित शारदीय

थीं वे विकसित—शारदीय—मल्लिका—सुमन—शोभित रजनी ।
 देख उन्हें कर प्रकट 'योगमाया'—'अचिन्त्य निज शक्ति' धनी ॥
 षडैश्वर्य भगवान् पूर्णने किया तुरत संकल्प महान ।
 रमण—रसास्वादन, स्वरूप—वितरणका, कर सबको रस—दान ॥
 दीर्घकाल पर दे दर्शन निज प्यारीको जैसे प्रियतम ।
 रंग दे केसरसे उसका मुख—मण्डल निज कर सुखद परम ॥
 वैसे प्राची दिशा—सुमुखि मुख सुखद स्वकिरण—अरुणसे रंग ।
 उदय हुआ विद्यु जग—जीवोंका ताप मिटाता शीतल अंग ॥
 लक्ष्मी—मुख—सम शोभित नद कुडकुम्—सम अरुण—वर्ण शशि देख ।
 विद्युकी कोमल किरणावलिसे उद्भासित अरण्यको लेख ॥
 मधुर—मनोहर नेत्रवती शुचि ब्रज—सुन्दरियोंका मन—हर ।
 किया विचित्र वेणु—वादन माधवने सुललित मधुर—स्वर ॥
 मुरलीके मधु स्वरमें पाकर प्रियतमका रसमय आह्वान ।
 हुई सभी उन्मत्त, चलीं तज लज्जा, धैर्य, शील, कुल—मान ॥
 पति, शिशु गृह, धन, धान्य, वस्त्र, भूषण, गौ, कर भोजनका त्याग ।
 चलीं जहाँ जो जैसे थीं, भर मनमें प्रियतमका अनुराग ॥
 नहीं किसीसे पूछा कुछ भी, कहा न कुछ भी, वित्त विभोर ।
 चलीं वेगसे जहाँ बजाते थे मुरली मधु नन्द—किशोर ॥
 प्रेमविवर्धक मुरली—स्वरसे हो अति विह्वल ब्रजनारी ।
 पहुँची तुरत निकट प्रियतमके भूल स्व—परकी सुखि सारी ॥
 थीं वे कृष्णगृहीत—मानसा, थीं वे चज्ज्वल रसकी मूर्ति ।
 थीं वे शुचितम प्रेमपूर्ण नटवरकी मधुर लालसा—पूर्ति ॥
 आत्मनिवेदन, पूर्ण समर्पण था पवित्रतम उनका भाव ।
 जिसमें था न स्व—सुख—वाञ्छाका किंचित् लेश, न किंचित् चाव ॥

विविध भँतिसे किया परीक्षण, दिखा मोह, मय, धर्म, विवेक ।
 पर उन प्रेममयी शुचि ब्रज-वधुओंने तनिक न छोड़ी टेक ॥
 कहा—विभो ! सर्वत्र विराजित ! सर्व-समर्थ ! सर्व-आधार ।
 क्यों नृशंस तुम बोल रहे यों ? आर्यीं हमें देख निज द्वार ॥
 त्याग सर्व-विषयोंको—शुक्ति-मुक्तिको, हम आर्यीं पद-मूल ।
 दुरवग्रह ! मत छोड़ो हमको, यों सारी रसमयता भूल ॥
 प्रिय ! तुम ही हो प्राणिमात्रके बन्धु, आत्मा अति प्रियतम ।
 पाकर छोड़ जाय जो तुमको, महामूर्ख वह, पतित, अधम ॥
 तुम्हीं बताओ परम धर्मविद् ! नित्यप्रिय ! तुमसे कर प्रीति ।
 भजे अन्य दुःखदको फिरसे, क्या है कभी उचित यह नीति ?
 छोड़ कहाँ हम जायँ तुम्हें अब, चलते नहीं चरण पद एक ।
 सुखसे लूट सभीका मन-धन, चले बताने हमें विवेक ॥
 आत्माराम-शिरोमणि सत्-चित्-परमानन्दरूप पर-धाम ।
 योगेश्वर-ईश्वर सब-लोक-महेश्वर नित्यतृप्त निष्काम ॥
 अज-भव-शेष-सनक-नारद सब करते नित जिनका गुण-गान ।
 प्रेममयी ब्रज-बनिताओंके शुद्ध प्रेम-बस वे भगवान् ॥
 अंग विमल शुचि स्पर्श-दान कर किया सभीको पावन, धन्य ।
 भावोद्दीपन किया, जगाया शुद्ध-काम रतियोग्य अनन्य ॥
 आत्मरमण फिर किया परम शुचि पूर्णकाम हरिने अभिराम ।
 शारदीय उन शशधर-किरण-सुशोभित रातोंमें रस-धाम ॥
 सत्यकाम अवरुद्ध-सुसौरत हरिने किया पवित्र विहार ।
 सत्-संकल्प चिन्मयी लीला-रसमय मधुर नित्य अविकार ॥
 नहीं रमण यह था कदापि विषयासक्तोंका 'इन्द्रिय-भोग' ।
 नहीं आत्माराम योगियोंका भी 'आत्मरमण'-संयोग ॥
 'काम-विजय' का भी न कहीं था कुछ भी यहाँ कल्पना-लेश ।
 क्योंकि नीच कामका तो हो सकता यहाँ न कभी प्रवेश ॥
 था विशुद्ध वितरण माधवका निज-स्वरूप-आनन्द महान ।
 था यह परम 'रसास्वादन' का निजमें ही निजका सुविधान ॥
 आस्वादक आस्वाद्य न दो थे, था मधुमय लीला-संचार ॥

था यह एक विलक्षण पावन परम प्रेमरसका विस्तार ।।
 मधुर परम इस रस-सागरमें गोपीजनका ही अधिकार ।
 परम त्यागका मूर्त रूप लख, जिन्हें किया हरिने स्वीकार ।।
 प्रेममयी ब्रज-रमणी-गणमण्डलमें हुए सुशोभित श्याम ।
 अगणित राशि तारिकामें अकलंक पूर्ण विद्यु विमल ललाम ।।
 अथवा नव नीलाभ-श्याम-घन दामिनि-दलमें रहे विराज ।
 घन-दामिनि, दामिनि-घन अन्तर अगणित उभय अतुल दुति साज ।।
 रासेश्वरी राधिकाके एकाधिपत्यमें सुन्दर साज ।
 शुचि सौन्दर्य मधुर रसमय असमोर्ध्व अमित बिजली-घनराज ।।
 एक एकके मध्य मनोहर एक एक, सब मिल, दे ताल ।
 रास-रसिक रस-नृत्य-निरत, शुचि बाज रहे मृदु वाद्य रसाल ।।
 जो इस मधुर शुद्ध रसका किंचित् भी कर पाता आस्वाद ।
 दृश्य जगत्का मिटता सारा शोक-मोह-मय-लोभ-विषाद ।।
 होता कामरोगका उसके जीवनमें सर्वथा अभाव ।
 राधा-माधव-चरण-रेणु-कण-करुणासे वह पाता 'भाव' ।।
 'भाव' प्राप्त हो वह हो पाता राधारानीका अनुचर ।
 सभी दोष मिट, होती उसमें प्रकट गुणावलि शुचि सत्वर ।।
 पाता वह फिर नित निकुञ्जमें अति दुर्लभ सेवा-अधिकार ।
 जिसके लिये सदा ललचाते ऋषि-मुनि-तापस छोड़ विकार ।।
 (पद-रत्नाकर, पद सं०-२६३)

परम प्रेममयी श्रीराधा

परम प्रेममयी श्रीराधा-गोपीजन सब कायब्यूह ।
 कृष्णप्रेम-परिपूर्ण हृदय सब दिव्य पूर्ण रस-भाव-समूह ।।
 क्षमा-क्रोध, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मान-नीचि अपमान ।
 जीवन-मृत्यु, विराग-राग, शुचि त्याग-भोग सब, ज्ञानाज्ञान ।।
 शान्ति-अशान्ति, विवेक-अज्ञानि सब, हास्य-रुदन, गायन-चीत्कार ।
 सभी श्याम प्रियतमको लेकर एकमात्र शुचि कर्म-विचार ।।
 कृष्णप्रेम-रस-भावित-मति सब कृष्णमिलन-हित आकुल प्रण ।

रहतीं सदा समुत्सुक करने रूप-सुधा-मधु-रसका पान ॥
 इह-परके विलास-सुख-भोगोंका करके आत्यन्तिक त्याग ॥
 कृष्णप्रेममत्ता थीं वे सब मूर्तिमान प्रियतम-अनुराग ॥
 पाकर आज अगाध अखण्ड स्वयं रसराज रसार्णवरूप ॥
 महाभावरूपा व्रज-सुन्दरि सुख-सुषमासे हुई अनूप ॥
 इसीलिये श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द पूर्ण परतम भगवान ॥
 भगवत्ता सब भूल रसिकचूड़ामणि रस-शेखर रसवान ॥
 प्रेम-विवश स्वेच्छामय वे कर सहज प्रेम-बन्धन स्वीकार ॥
 करने लगे गोप-सुन्दरियोंका रसमय आदर-सत्कार ॥
 त्यागपूर्ण रस मधुर देखकर ललचा उठे स्वयं भगवान ॥
 करने लगे स्वयं रस-लोलुप बन वे रस-खाज्खा मतिमान ॥
 नव-नीरद-नीलाभ श्याम-घन मानो दामिन-दलमें आज ॥
 घन-दामिनि, दामिनि-घन अगणित बीच-बीचमें रहे विराज ॥
 दिव्य मिलनका उनको करके दुर्लभ दिव्यानन्द प्रदान ॥
 करने लगे स्वयं उस दिव्य रसामृत शुचि सादर पान ॥
 (पद-रत्नाकर, पद सं०—२६५)

उदय हुए जब श्रीवृन्दावन

उदय हुए जब श्रीवृन्दावन-चन्द्र पूर्णतम चन्द्रस्वरूप ॥
 उज्ज्वल स्निग्ध सुधामयि शीतल किरणें लहरा उठीं अनूप ॥
 पूर्ण पूर्णिमा प्रकटी पावन, हुआ अविद्या-तमका नाश ॥
 प्रेम-प्रभा हुई उद्भासित, छाया शुद्ध सत्त्व-उल्लास ॥
 पावन यमुना-पुलिन प्रकट हो, फेड़ी मोहिनि मुरली-तान ॥
 किया श्यामने प्रेममूर्ति व्रज-सुन्दरियोंका प्रिय आह्वान ॥
 भूल गयीं अग-जगको, भूलीं देह-गेहका सारा भान ॥
 जो जैसे थी, वैसे ही चल पड़ी, छोड़ लज्जा-मथ-मान ॥
 होता उदय मधुर रस नव-नव रूपोंमें जब कृष्णानन्द ॥
 रुक पाता न पलक प्रेमीका तब रस-लोलुप मन स्वच्छन्द ॥

नहीं खींच पाता फिर उसको भुक्ति-मुक्तिका कोई राग ।
 प्रेम-सुधा-रस-मत्त दौड़ पड़ता, वह सहज सभी कुछ त्याग ॥
 प्रियतमके प्रिय मधुर-नाम-गुण लीला-कथा सुधा-रस मग्न ।
 सर्व-समर्पित होता उसका, होता सहज मोह-भ्रम भग्न ॥
 राधामुख्या भावमयी सब व्रजसुन्दरियाँ कर अभिसार ।
 पहुँचीं तुरत श्याम-चरणोंमें उन्मादिनि हो मधुर उदार ॥
 किया समर्पण परम मुदित मन, सहज अखिल जीवन आचार ।
 बनी सर्वथा एकमात्र वे प्रियतम सुख-मूरति साकार ॥
 सहज अभित सौन्दर्य, परम माधुर्य, अतुल ऐश्वर्यनिधान ।
 पूर्णकाम निष्काम सहज जो आत्माराम स्वयं भगवान् ॥
 गोपीके उस त्यागशुद्ध रस मधुर दिव्यका करने पान ।
 लालायित हो उठे परम आतुर हो रसदाता रसखान ॥
 प्रेमीजन-मन-रञ्जन प्रभुने किया उन्हें सादर स्वीकार ।
 आत्माराममयी रस-क्रीडा विविध विचित्र रची सुखसार ॥
 किया-कराया दिव्य परम रस-दान-पान अति कर सम्मान ।
 प्रति गोपीको दिया परम सुख घर अनन्त वपु दिव्य महान ॥
 प्रेमभिक्षु बन स्वयं किया गोपी-प्रदत्त सुख-अंगीकार ।
 बोले—प्रेमरमणियो ! यह निरवद्य तुम्हारा रस-व्यवहार ॥
 घरको तोड़ अटूट बेड़ियाँ तुमने मुझे भजा अविकार ।
 सदा बढ़ाता स्वखेगा यह मुझपर सुखमय ऋणका भार ॥
 नहीं चुका सकता मैं बदला इसका देव-आयु-चिरकाल ।
 तुम्हीं स्वसाधुतासे कर सकतीं मुझे कभी ऋणमुक्त निहाल ॥
 राधा आदि गोप-रमणी सब सुनकर प्रियतम की यह बात ।
 हुई चकित वे लगीं देखने अपलक दृग प्रिय-मुख-जलजात ॥
 देते दिव्य अनन्त परम सुख, निजको ऋणी मानते आप ।
 कैसा शील-स्वभाव विलक्षण, कैसा हृदय उदार अमाप ॥



भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन



महारास—रसमय भगवान्की अन्तरंगसीता